विज्ञापन ।

हिन्दू जातिकी अद्वितीय विराट् धर्म्मसभा श्रीभारत महामण्डलने सनातनधर्म्मावलम्बी बालक और कन्याओंकी यथावत् धर्म्मशिक्षाके लिये अनेक छोटे बड़े ग्रन्थ संग्रहीत और रचित कराये हैं । वे सब संस्कृत, हिन्दी, बङ्गला आदि अनेक भाषाओंमें प्रकाशित होंगे । प्रथम अवस्थामें धर्म्मशिक्षाके लिये सदाचार-सोपान, कन्याशिक्षासोपान, ब्रह्मचर्य्याश्रम-सोपान, साधन-सोपान, राजशिक्षासोपान और धर्म्म-सोपान आदि पुस्तकें प्रकाशित होचुकी हैं । बालकोंको वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंका साधारण प्रारम्भिक-ज्ञान देनेके अर्थ यह शास्त्रसोपान नामक पुस्तक प्रकाशित होती है ।

वेद और वेदसम्मत शास्त्रसमूह अति विस्तृत हैं और उनके भावसमूह अति दुर्ज्ञेय हैं, विशेषत: इस समय धार्म्मिक शिक्षा और शास्त्रीय यथावत् शिक्षाका अभाव होजानेसे शास्त्रोंके स्वरूपतकसे सनातनधर्म्मावलम्बी परिज्ञात नहीं हैं । इसी कारण अपने शास्त्रोंमें अश्रद्धा और विदेशीय लौकिक शास्त्रोंमें श्रद्धा बालकोंको प्रथमसे ही हो जाती है । और यह अश्रद्धाबीज क्रमश: वृद्धिको प्राप्त होकर अनेक प्रकारकी हानिका कारण होता है ।

यदि बाल्यावस्थामें ही बालक बालिकाओंको साधारण ज्ञान करा दिया जाय कि अपौरुषेय वेद कितने विस्तृत हैं, उनका माहात्म्य कितना अधिक है और साथही साथ वेदसम्मत शास्त्रोंका विस्तार भी उनको समझा कर वेद और शास्त्रोंका साधारण स्वरूप उनके हृदयस्थ करा दिया जाय तो वे वयःप्राप्त होने पर कदापि विचलित नहीं होंगे। इस क्षुद्र पुस्तकके द्वारा बालक बालिकाओंको वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंका स्वरूप साधारणतः परिज्ञात हो सकेगा।

सनातनधर्म्मावलम्बी पिता, शिक्षक और सनातन-धर्म्मसभाएँ इस पुस्तकसे अपने बालक और शिष्यगोंको धार्म्मिक शिक्षाका लाभ उठाकर ग्रन्थकर्त्ताके प्रयत्नको सफल करें। धर्म्म-सोपान, सदाचारसोपान, साधन-सोपान श्रीमधुसूदनसंहिता आदि ग्रन्थोंके अनुरूप पूज्यपाद ग्रन्थ-कर्त्ताके दानपत्रके नियमानुसार उनकी आज्ञासे इस ग्रन्थका स्वत्वाधिकार "श्रीविश्वनाथअन्नपूर्णादानभाण्डार"में अनाथ, विधवा, दीन और दुःखी आदिकोंके सेवार्थ श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके द्वारा अर्पित हुआ है। विज्ञापन पूज्यपाद प्रभुकी आज्ञासे लिखा गया है।

आश्विन शुक्ला विजया दशमी संं० १९६७ वैक्रमीय।

निवेदक
विवेकानन्द।

ॐ तत्सत् ।

शास्त्रसोपान ।

मङ्गलाचरण ।

महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम् ।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥

निगमागमस्वरूप ।

प्रथम अध्याय ।

वेद ।

अनादि और अपौरुषेय वेद सनातनधर्म्मके मूलरूप हैं। वेद शब्द का भावार्थ ज्ञान है, विद् धातुसे वेदशब्दकी उत्पत्ति होनेके कारण वेदशब्द ज्ञानवाचक है । ज्ञान नित्य वस्तु है, इस कारण प्रलयके समय भी ज्ञानरूप वेद ॐकाररूपसे नित्य स्थित रहते हैं। वेद मनुष्य द्वारा प्रणीत नहीं हुए इस कारण वे अपौरुषेय कहाते हैं* । उनमें

---

* अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी विद्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥
[भगवान् वेदव्यासः]

जो देवता ऋषि और छन्दका वर्णन आता है उससे तात्पर्य्य यह है कि जिन२ श्रुतियों द्वारा जिन जिन भगवच्छक्तियोंकी उपासना की जाय वे उनके देवता कहाते हैं । जिन२ त्रिकालदर्शी महर्षिगण-के चित्त में स्वतन्त्र २ श्रुतियां प्रथम आविर्भूत हुई थीं अर्थात् जिन २ आचार्य्यों द्वारा वे मन्त्र प्रकाशित हुए हैं वे ही उन मन्त्रोंके ऋषि कहाते हैं, और जिन २ छन्दोंमें वे श्रुतियां कही गई हैं सो उन २ वेदमन्त्रोंके छन्द कहाते हैं । इसी नियमके अनुसार प्रत्येक मन्त्रके साथ ऋषि देवता और छन्दका उल्लेख करनेकी विधि वेदोंमें पाई जाती है । इसका प्रयोजन यह है कि छन्दके परिज्ञात होनेसे उस मन्त्र की आधिभौतिक शक्ति-का ज्ञान होगा क्योंकि प्रत्येक वैदिक छन्दोंकी शक्ति अलग अलग होती है । उक्त छन्दोंके अनु-सार स्वतन्त्र २ कार्य्य करनेकी व्यवस्था वेदके ब्राह्मण भागमें बहुधा पाई जाती है । देवताके ज्ञानसे उस उक्त मन्त्रकी अधिदैवशक्तिका

नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि । [मेधातिथिः]

प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः ।

[कूल्लूकभट्टः]

ज्ञान होता है और ऋषिका ज्ञान होनेसे उक्त मन्त्रकी आध्यात्मिक शक्ति पर लक्ष्य होता है। वेदोंकी भाषा साधारण संस्कृत भाषासे कुछ अपूर्व व विलक्षण ही है, जिस पर विचार करनेसे वेदकी भाषाका लोकविलक्षणत्व और भावकी गंभीरता स्वतः ही प्रमाणित हुआ करती है। अपने आर्य्य जातिगत विचारोंके अनुसार सृष्टिके आदिकालसे ही वेदोँका सम्बन्ध माना जाता है*। अपिच आज कलके पाश्चात्यविचारशील वैज्ञानिक पण्डितगण भी एकमत होकर स्वीकार करते हैं कि पृथ्वीभरमें वेदोँसे प्राचीन कोई भी ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। फलतः अभ्रान्त वैदिकविज्ञानके अनादित्व और वैदिक भाषाके अतिप्राचीनत्वको इस संसारके सब बुद्धिमान् व विद्वान्लोग एकवाक्यसे स्वीकार करते हैं।

वेदोँमें ज्ञान और विज्ञान दोनों ही विस्तृत रूपसे वर्णित हैं। अघटनघटनापटीयसी महामायाकी अनन्तशक्तिलीला भूमि, अनन्त आकाश

---

* युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा [स्मृतिः]

और ग्रहनक्षत्रादि लोकोंसे सुशोभित संसार जिस प्रकार अनन्त है उसी प्रकार वेदोंका स्वरूप भी अनन्त है *। केवल एक ज्ञानदृष्टिसे ही हम इस संसारको अनन्त देख रहे हैं। प्रथम तो ज्ञानविस्तारका यह स्थूल जगत् ही अनन्त है; पुनः विज्ञानसे सम्बन्धयुक्त अध्यात्मराज्यका इस बहिर्जगत्से और भी विस्तृत होना सम्भव है। अपिच वेदोंमें जब ज्ञान और विज्ञान दोनोंका ही वर्णन है तब वह वेदरूपी शब्दब्रह्म कितने अनन्तरूपधारी हो सक्ते हैं सो विचारशील पुरुष-मात्र ही समझ सक्ते हैं। वेद अनन्त होने पर भी इस कल्पके वेदोंकी संख्या पाई जाती है कि ऋग्वेदकी २१ शाखाएँ यजुर्वेदकी १०९, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी ५० शाखाएं हैं †। परन्तु महान् शोकका विषय है कि भारतमें नाना विप्लव और भारतवासियोंकी वर्त्तमान अज्ञानताके कारण वेदोंकी सब

* अनन्ता वै वेदा [इति श्रुतिः]

† ऋग्वेदस्यतु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः। नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ॥ सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप। अथर्वस्य तु शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे ॥
[इति श्रुतिः]

११८० शाखाएं रहने पर भी आज दिन केवल पांच सात शाखाएं दृष्टिगोचर हो रही हैं। वर्तमानसृष्टिके इस कल्पकी जितनी शाखाओंमें अपौरुषेय वेदका विस्तार हुआ था उन प्रत्येक शाखाओंके स्वतन्त्र २ मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग, उपनिषद्भाग, वेदाङ्गमें सूत्र और प्रातिशाख्यके भेदसमूहों पर ही विचार करनेसे परिज्ञात होगा कि इस कल्पमें भी वेदोंका कितना महान् विस्तार था।

सर्वजीवहितकारी वेदोंमें ज्ञानसम्बन्धीय अनन्त विषय रहने पर भी विज्ञानसम्बन्धीय गूढ़ रहस्य हैं। अपिच वेदोंकी भाषा बहुत सारगर्भ, संक्षिप्त, गम्भीर और वैज्ञानिकभावयुक्त होनेके कारण साधारणबुद्धिगम्य नहीं है; इसी कारण आजकलके अल्पदर्शी विद्वान्लोगोंके बहुधा वेदार्थ समझनेमें विचलित होनेके कारण उनमें मतभेद और अनेक सन्देह व प्रमादकी वृत्तियोंका उदय हुआ करता है। परन्तु यथार्थमें शब्दब्रह्मरूपी वेद मूर्त्तिमान् ब्रह्मरूप ही हैं। जिस प्रकार एक अद्वि-तीय ब्रह्म त्रिगुणभेदके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप वैज्ञानिक त्रिदेवमूर्त्ति धारण कर सृष्टि-

की स्थिति, उत्पत्ति और लयका कार्य्य किया करते हैं, उसी प्रकार अपौरुषेय वेद भी उपासना, कर्म्म और ज्ञानके प्रकाशार्थ संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्रूप त्रिमूर्तिको धारण कर सकल संसारके कल्याणमें प्रवृत्त हैं। वेद तीन भागमें विभक्त हैं-यथा मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग और आरण्यक भाग। आरण्यकभागको ही उपनिषद् कहते हैं। जिस प्रकार शरीरमें मस्तक है उसी प्रकार वेदोंमें उपनिषद् उत्तमाङ्ग हैं। उपनिषद् निवृत्तिमार्गगामी वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमधारियोंके लिये संग्रहीत हुए हैं। प्राचीन कालमें तपोवन अनेक थे और वानप्रस्थाश्रमी वहीं वास करते थे और संन्यासीगण भी वहीं विचरण किया करते थे, इस कारण उपनिषदोंका नाम आरण्यक पड़ गया है। परम पवित्र उपनिषद्समूह मुक्तिपदप्राप्तिके प्रधान अवलम्बन हैं। ब्राह्मणभाग और संहिताभाग कर्म्मकाण्ड और उपासनाकाण्डके अवलम्बनीय हैं। यद्यपि सब वेद एक ही हैं परन्तु वे कर्म्माधिकारभेदसे उक्त प्रकार संकलित किये गये हैं और ऋक्, यजुः, साम और अथर्व ये भी तन्नामोक्त चार प्रकारकी स्वतन्त्र २ श्रुतियोंके

विभाग कर देनेसे चार वेद कहलाने लगे हैं। वास्तवमें इन तीन विभाग और चार संज्ञाओंसे युक्त वेद एक ही है। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व-श्रेणीके अनुसार जो शाखाओंकी संख्या पहले कह आये हैं उसमें प्रत्येक शाखाके अलग अलग मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग और आरण्यकभाग थे परन्तु इस कल्पमें जितना वेद प्रकट हुआ था उसका सहस्रांश भी नहीं मिलता। अनेक विप्लव और दुर्घटनाओंके कारण वेदका प्रधान अंश लुप्त होगया है, तथापि अब जितना अंश मिलता है वह भी आर्य्यजातिके लिये इस आपत्कालमें कल्याणप्रद है।

श्रुतियोंका असाधारण और अलौकिक महत्त्व यह है कि जिस प्रकार श्रीभगवान्का ब्रह्म, ईश और विराट्स्वरूप, स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षण द्वारा वेद्य है * उसी प्रकार कार्य्यब्रह्मरूपी यह संसार और इसके सब अङ्ग अर्थात् ब्रह्माण्ड और पिण्डके सब विभाग भी तीन रूपसे देखे जाते

* तत्त्रिभाववत्, तस्मादोंतत्सदिति निर्देशः ब्रह्मणोऽधिदैवाऽधिभूतरूपं तटस्थवेद्यम्, स्वरूपेणतदध्यात्मरूपम्।

[भक्तिदर्शनम्]

हैं; कारणब्रह्मके भावोंमें जो अध्यात्म, अधि-दैव और अधिभूत भाव हैं वेही भाव कार्य्यब्रह्म-के भी प्रत्येक अङ्गमें रहेंगे। इसी अभ्रान्त भगवन्नि-यमके अनुसार प्रथम तो सम्पूर्ण वेद जीवोंकी अध्यात्म शुद्धि, अधिदैव शुद्धि और अधिभूतशुद्धि करनेके अर्थ ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्म्मकाण्डमें विभक्त हैं और पुनः प्रत्येक श्रुति भी स्वतन्त्र २ रूपसे मनुष्योंको आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक शुद्धि करनेके अर्थ तीनों भावोंकी शक्ति रखती है * परन्तु कठिनता इतनी है कि जिस प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म सब स्थानोंमें रहने पर भी विना योगयुक्त हुए मनुष्य उनको नहीं देख सक्ता इसी प्रकार विद्वान्का अन्तःकरण भी विना साधनादि द्वारा निर्म्मल हुए प्रत्येक श्रुतिका यह त्रिविध अर्थ नहीं हृदयङ्गम कर सक्ता ।

---

* त्रयोऽर्थाः सर्ववेदेषु, इत्यादि । [मध्वऋग्भाष्ये]
यथा दुग्धं च भक्तं च शर्करा च सुमिश्रितम् ।
कल्पितं देवभोगाय परमान्नं सुधोपमम् ॥
तथा त्रैविध्यमापन्नः श्रुतिभेदः सुखात्मकः ।
नयते ब्राह्मणान् नित्यं ब्रह्मानन्दं परात्परम् ॥
[इति विज्ञानभाष्ये]

प्रथम तो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष * इन छहों अङ्गोंका भलीभांति अध्ययन करके वेदार्थ समझनेकी शक्ति प्राप्त करनी पड़ेगी । इन छहों अङ्गोंमेंसे यदि एक अङ्गकी भी न्यूनता रहेगी तो विद्वान्की शक्ति पूर्ण नहीं होगी । इन अङ्गोंके ज्ञानका लाभ करनेके अनन्तर सप्तदर्शनोंका ज्ञान भली भांति प्राप्त करना होता है । वैदिक सप्त दर्शन अन्यदेशीय दर्शनों के सदृश काल्पनिक भित्ति पर स्थित नहीं हैं वे सप्तज्ञानभूमिमें यथाक्रम प्रवेश करानेवाले सप्त अधिकारसे आविर्भूत हुए हैं । इस प्रकारसे षडङ्ग और सप्तदर्शनके रहस्योंको पूर्ण रीतिसे हृदयङ्गम करने पर और कर्म्म, उपासना और योगादिकी सहायतासे चित्त निर्मल होने पर पूर्णज्ञानयुक्त वेदोंकी उपलब्धि होसकती है अन्यथा अनन्त, अपार और गंभीर वेदसागरके पार जाने की तो बात ही क्या है उसमें प्रवेश करना भी असम्भव है ।

---

* शिक्षा कल्पो व्याकरणं ज्योतिश्छन्दो निरुक्तकम् ।

द्वितीय अध्याय ।

षडङ्ग ।

वेदार्थ अति दुर्ज्ञेय है। जिस प्रकार समाधिस्थ पुरुष ही ब्रह्मदर्शनमें समर्थ होसक्ता है, उसी प्रकार समाधियुक्त अन्तःकरण द्वारा ही शब्द-ब्रह्मरूपी वेदका यथार्थ अर्थ समझा जा सक्ता है, परन्तु योगीकी पदवीको प्राप्त करनेवाले सौभाग्य-वान् महापुरुष कम ही होते हैं * । वेद वाक्य ही जब ज्ञान और विज्ञान पानेके एकमात्र लौकिक उपाय हैं तो लौकिकरूपसे वेद समझनेकी युक्ति ही सर्वसाधारणके लिये हितकारिणी होसक्ती है, परन्तु वेद जब अलौकिक ज्ञानभाण्डारके आधार-रूप हैं तो लौकिक पुरुषार्थ द्वारा अलौकिक वैदिक-ज्ञानप्राप्त्युपयोगी बुद्धिका लाभ करनेके अर्थ कुछ असाधारण यत्नकी ही आवश्यकता है अर्थात् जिस प्रकार साधारण व्याकरण एवं काव्यकोष आदिके पाठ करनेसे ही पंडितगण सब अन्यान्य संस्कृत ग्रन्थोंके समझनेके उपयुक्त बुद्धिको प्राप्त

---

* मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः [श्रीगीतोपनिषद्]

कर लिया करते हैं, केवल वैसी ही साधारण योग्यता द्वारा वैदिक ज्ञानकी प्राप्ति कदापि नहीं होसक्ती। विना षडङ्गोंमें पूर्ण योग्यता प्राप्त किये जिज्ञासुगण कदापि वेदार्थ समझनेमें समर्थ नहीं होसक्ते। जिस प्रकार किसी पुरुषकी परीक्षा की जाती है तो पहले उसकी आकृति, चेष्टा, गुण, प्रकृति, चरित्र आदि अनेक बातोंके जाननेकी आवश्यकता होती है और इन बातोंके जाननेसे उस व्यक्तिका पूर्णरीतिसे परिचय होसक्ता है अन्यथा नहीं, उसी नियमके अनुसार वेदपाठ द्वारा वैदिक तात्पर्योंके समझनेके अर्थ योग्यबुद्धिका सम्पादन तभी होसक्ता है जब षडङ्ग पूर्णरूपसे अभ्यस्त होजायँ। वैदिक षडङ्गके नाम यथाः-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष * इस वेदपुरुषके छन्दःशास्त्र चरण और कल्प (कर्मकाण्ड ग्रन्थ) हस्त, ज्योतिषशास्त्र नयन, निरुक्तशास्त्र कर्ण, शिक्षाशास्त्र नासिका और व्याकरणशास्त्र मुखरूप है †।

---

* शिक्षाकल्पो व्याकरणं ज्योतिश्च्छन्दो निरुक्तकम् ।

† छन्दः पादौतु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषाम-यनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥ शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याक-रणं स्मृतम् ।

शिक्षाशास्त्रमें वेदके पाठ करनेकी शैली विस्तृत रीतिसे वर्णित है । वैदिकज्ञानप्राप्तिके अर्थ पाठ ही प्रथमस्थानीय है । इस कारण शिक्षा शास्त्रकी सर्वप्रथम आवश्यकता मानी गई है। शब्दके साथ शाब्दिक भावका और वाचकके साथ वाच्यका तादात्म्यसम्बन्ध है ; इस विषयको दर्शनशास्त्रोंने भलीभांति सिद्ध कर दिखाया है। परन्तु शब्दकी शक्ति तबही पूर्णरूपसे प्रकाशित होसक्ती है जब शब्द अपने पूर्णरूपमें उच्चरित हो । फलतः अलौकिकशक्तिपूर्ण वेदके पदसमूह द्वारा तबही पूर्ण लाभ होसक्ता है जब वे अपनी वैज्ञानिकशक्तियुक्त यथावत् ध्वनिके साथ बोले जायँ। वेद शब्दमय ब्रह्म हैं। अपिच शब्दविज्ञानके यथावत् क्रमके अनुसार वेदपाठ व गान करनेकी शैली इस शास्त्रमें आविष्कृत की गई है। शब्द, वर्णात्मक व ध्वन्यात्मक भेदसे दो भागोंमें विभक्त हैं, इसी कारण वेदपाठके केवल वर्णात्मक शिक्षा अंशका ह्रस्वादिभेदसे साधारण शिक्षाशास्त्रमें वर्णन किया गया है एवं ध्वन्यात्मकप्रकरणका षड्ज आदि विभागके अनुसार गान्धर्व उपवेद आदिमें वर्णन किया गया है । शब्दब्रह्मके ह्रस्व आदि

विभाग अथवा गानोपयोगी षड्ज आदि विभाग ही उनके पूर्णरूपका आविर्भाव किया करते हैं। स्वरके ह्रस्वादि तीन साधारण भेद और षड्ज आदि सात असाधारण भेद हैं। साधारण और असाधारण होनेके कारण उनके द्वारा साधारण एवं असाधारण शक्तिकी उत्पत्ति हुआ करती है। मन्त्रोंमें सङ्गीतका सम्बन्ध होजानेसे सामवेदकी महिमा सर्वोपरि कही गई है। वेदकी साधारण शिक्षामें केवल ह्रस्वादि तीन स्वरभेदोंका वर्णन, पाठकी शैली और हस्तचालनादि बहिःक्रियाकी शैलीका वर्णन किया गया है और सामवेदसम्बन्धीय सङ्गीतशिक्षामें इन तीनों स्वरभेदोंसे और सात स्वरोंकी उत्पत्ति दिखाकर उन्हींकी सहायतासे मूर्च्छना आदि और असाधारण सूक्ष्मशक्तिकी उत्पत्ति द्वारा शब्दविज्ञानकी और ही कुछ विशेष अलौकिकता आविष्कृत की गई है। आज दिन जिस प्रकार सङ्गीतशास्त्र केवल लौकिक आनन्दसम्बन्धीय शिल्प समझा जाता है, वास्तवमें पूज्यपाद महर्षिगण द्वारा आविष्कृत गान्धर्व उपवेद वैसा शास्त्र नहीं है। आर्यजातिकी सङ्गीतविद्या उच्च वैज्ञानिक शास्त्र है और इसी अलौकिक विद्याकी

सहायतासे वेदमन्त्रोंसे अलौकिकशक्तियोंकी उत्पत्ति हुआ करती है। पूज्यपाद नारद आदि महर्षियोंके शिक्षाग्रन्थ पाठ करनेसे विदित हो सकेगा कि ह्रस्व आदि तीन स्वरोंके विस्तारसे सप्त स्वर, इक्कीस मूर्छना और बाईस श्रुति, तदनन्तर इनके विस्तारसे अनेक राग रागिनियोँकी किस प्रकार सृष्टि हुई है * एवं उन स्वरविभागोंके द्वारा मनुष्यके चित्त पर कैसा प्रभाव पड़ना सम्भव है। यह मनुष्य शरीर भी एक क्षुद्र ब्रह्माण्ड है, जो सृष्टिप्रकरणका नियम ब्रह्माण्डमें स्थित है वही नियम इस शरीरमें भी पाया जाता है। इसी सृष्टिनियमके अनुसार शब्दसृष्टि त्रिगुणभेदसे प्रथम स्थूल अवस्थामें ह्रस्व आदि तीन भेदोंसे युक्त होती है और द्वितीय सूक्ष्म अवस्थामें सृष्टिके स्वाभाविक सप्तभेदकी न्याईं सप्तभेद-

---

* श्रुतिभ्यस्तु स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः। पञ्चमो धैवतश्चाऽथ निषाद इति सप्त ते ॥ तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः। दीप्तायता च करुणा मृदुर्मध्येति जातयः ॥ श्रुतीनां पञ्च तासाञ्च स्वरेष्वेवं व्यवस्थिताः। ते मन्द्रमध्यताराख्य स्थानभेदास्त्रिधा मताः ॥ तएव विकृतावस्था द्वादश प्रतिपादिताः

[सङ्गीतरत्नाकरे]

युक्त हुआ करती है । इन्हीं दोनों भेदोंके अनुसार शिक्षाशास्त्रोंका प्रणयन किया गया है। जिस समय इस शरीरमें स्वरसम्बन्धिनी सृष्टि होती है तो उसी सृष्टिनियमके अनुसार प्रथम आत्माकी प्रेरणासे बुद्धि, मन, प्राणशक्ति और प्राणवायु क्रमशः प्रेरित होकर तदनन्तर शब्द आविर्भूत होते समय शरीरके विशेष २ स्थानोंका स्पर्श करते हुए शब्दको प्रकाशित करते हैं * । फलतः प्रत्येक स्वरके साथ आत्माका तादात्म्य-सम्बन्ध रहा करता है। परन्तु वह आत्मशक्ति तब ही पूर्णरूपसे प्रकाशित हो सक्ती है कि जब वह यथावत् शब्दके आश्रयसे ध्वनित होने पावे। जिस अध्यात्मभावका जो अधिभूत स्वर है वह तबही यथावत् प्रकाशित होसक्ता है जब बीचकी अधिदैवशक्ति कार्य्यकारिणी हो। अपिच यदि पूर्वक्रमके अनुसार कार्य्यकारिणी अधिदैवशक्ति सकल स्थानोंमें स्थायी न होसके और वायुको शब्दमें परिणत करनेके पूर्व ही निर्बल होजाय तो

---

* आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनोयुङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ मारुतस्तूरसिचरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥ [इति पाणिनीयशिक्षायाम्]

शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द ज्योतिष ये छः क्रम हैं, सो विद्यार्थियोंके शिक्षा पानेके अनुसार श्रेणीबद्ध किये गये हैं, परन्तु वास्तवमें शिक्षाके साथ छन्दका, व्याकरणके साथ निरुक्तका और कल्पके साथ ज्योतिषका घनिष्ट सम्बन्ध है। और इन छहों अङ्गोंमें क्रियासिद्धांशके विचारसे शिक्षा और औपपत्तिक अंशके विचारसे व्याकरण प्रथम आवश्यकीय अंग है। ये सब अंग वैज्ञानिक विचारसे पूर्ण हैं। व्याकरणशास्त्र शब्दानुशासनका द्वाररूप है। जिस प्रकार अन्तर्जगत्सम्बन्धीय राज्यमें प्रवेश करनेके लिये योगशास्त्र द्वारभूत है और उसका भगवान् पतञ्जलिजीने "अथ योगानुशासनम्" कह कर प्रारम्भ किया है उसी प्रकार शब्दब्रह्मरूपी स्थूलराज्यमें यावत्पदार्थोंका ग्रहण करनेके लिये व्याकरण वेदका द्वाररूप है और इस शास्त्रका भी भगवान् पतञ्जलिजीने "अथ शब्दानुशासनम्" कह कर प्रारम्भ किया है। जिस प्रकार शब्दमय सृष्टिके होते समय भावसे वृत्ति और वृत्तिसे शब्दकी उत्पत्ति होती है और अन्तर्जगत्से बहिर्जगत्में शब्दोंका आविर्भाव होते समय शब्दोत्पत्तिकारिणी शक्तिके चार भेद किये हैं; यथा-

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी; उसी प्रकार शाब्दिक सृष्टिका लय होते समय अर्थात् शब्द जब अन्तराज्यमें प्रवेश करता है तब शब्दसे अर्थ और अर्थसे भावकी उत्पत्ति होती है। संस्कृत भाषा अपने नामानुसार संस्कृत और अपने सब अङ्गोंमें पूर्ण होनेसे सर्वथा नियमबद्ध है, इस कारण संस्कृत भाषाके लिये व्याकरणकी सर्वोपरि आवश्यकता है, व्याकरणके द्वारा जब शब्द शुद्ध लिखे और पढ़ेजायँगे तभी उनसे ठीक अर्थका बोध होनेसे दुर्ज्ञेय भावोंको समझनेमें सहायता प्राप्त होगी। व्याकरण शास्त्रकी एक विशेष महिमा यह भी है कि ज्योतिषके सदृश यह शास्त्र मनुष्योंको वैदिक और लौकिक दोनों कार्योंमें पूर्णरीतिसे सहायताप्रदान करता है। इस शास्त्रके अनेक बड़े २ ग्रन्थ लुप्त होगये हैं तौ भी कुछ आर्ष ग्रन्थ अब भी उपलब्ध होते हैं।

व्याकरणशास्त्रद्वारा प्रथम शब्दार्थका बोध होता है और तदनन्तर निरुक्तशास्त्रोक्त विज्ञान द्वारा वेदका भावार्थ समझनेमें सहायता प्राप्त हुआ करती है। निरुक्तशास्त्रका भी निघण्टु नामसे एक अन्तर्विभाग है। निघण्टुद्वारा केवल वैदिकशब्दज्ञानमें सहायता प्राप्त होती है। इस

शास्त्रको वेदका कोष भी कह सकते हैं। वैदिक वर्णनविचारके अनुसार वेदमें कई प्रकारकी भाषाएँ हैं और सृष्टिके त्रिविध परिणामके अनुसार वेदमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध भावोंका भी वर्णन पाया जाता है। इन सबका विस्तृत ज्ञान निरुक्तशास्त्रके भलीभांति जाननेसे प्राप्त हुआ करता है। निरुक्त-विज्ञानका सार यह है कि जिस प्रकार व्याकरण-शास्त्र शब्दको नित्य मानता है उसी प्रकार निरुक्तशास्त्र भावको नित्य माना करता है। जिस प्रकार व्याकरणविज्ञान द्वारा ओंकाररूपसे वेदकी नित्यता विज्ञानसिद्ध है उसी प्रकार निरुक्तके और भी उच्चविज्ञानद्वारा भावमय अध्यात्मस्वरूपकी नित्यताकी सिद्धिद्वारा ज्ञानमय वेदकी नित्यता प्रमाणित होती है। स्थूल बहिर्जगत्से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्यात्मपद पर्य्यन्त सबही भावमय है। सृष्टिकी आदि, मध्य और अन्त इन तीनों अवस्थाओंमें एकमात्र भावमय चेतनसत्ता ही समानरूपसे स्थित रहा करती है; इस कारण भावसे ही सत्त्वकी उत्पत्ति सर्वथा स्वीकार्य्य है। फलतः भाव प्रधान होनेके कारण शब्दके अवलम्बनसे

भावराज्यकी यथार्थ भूमिमें पहुंचा देना ही इस शास्त्रका पुरुषार्थ है। प्राचीनकालमें निरुक्त शास्त्र-का वहुत ही विस्तार था। पूज्यपाद महर्षिगण इस शास्त्र के अगणित वड़े २ ग्रन्थ रच गये थे परन्तु नाना कारणोंसे अव उन ग्रन्थोंके नामों तकका संग्रह करना कठिन होगया है। चतुर्विंश-तिमतनामक असाधारण पुस्तकका जितना अंश स्थान २ पर पाया जाता है उसके पाठ करनेसे ही निरुक्त शास्त्रकी अलौकिकता और उसके असाधारण विस्तारके विषयमें कुछ अनुमान किया जासक्ता है। आजकल निरुक्तका एक छोटा सा अंश जो षडङ्गनिरुक्तके नामसे देखनेमें आता है वह प्राचीन निरुक्तके कङ्कालकी छायामात्र है। वेदोंमें लाघव गौरवका विचार होनेके कारण विना निरुक्तशास्त्रकी पूर्ण सहायताके भावाववोध होना असम्भव है। पूज्यपादमहर्षि-गणकथित दर्शनशास्त्रोंमें लाघव गौरवकी अधि-कता किस प्रकार है, सो वे विद्वान् लोग स्वतःही अनुमान कर सक्ते हैं जिन्होंने कभी विना भाष्यों-की सहायताके दार्शनिक सूत्रोंके समझनेके लिये यत्न किया होगा। वेद यावत् दार्शनिकतत्त्वों तथा

विज्ञानोंकी खानि हैं इस कारण उनमेंका लाघव-गौरवविचार पराकाष्ठाका ही होगा, इसमें सन्देह ही क्या है? श्रुतियोंका यह लाघवगौरवविचार कई कोटियोंमें विभक्त है। प्रथम तो त्रिभावात्मक, जिसका हम वर्णन पहले कर चुके हैं और पुनः सप्तविज्ञानात्मक, जिसका वर्णन सप्तदर्शनोंमें संक्षेपसे किया गया है * ये त्रिविध भावही क्रमशः जीवके त्रिविधसुख और त्रिविध दुःखके अनुभवके हेतु हुआ करते हैं और यह सप्त विज्ञानमय सप्तदार्शनिकभूमि ही साधकको मुक्तिपद प्राप्त करनेके अर्थ सात नियमबद्ध सोपान हैं। तदतिरिक्त त्रिगुणभेदसे सत्त्व, रज और तमोगुणके अनुसार उत्तम, मध्यम और कनिष्ट अधिकारके रहस्योंका भेद श्रुतियोंमें रहना अवश्यसम्भावी है, क्योंकि ये भेद भी त्रिगुणात्मक विश्वके अन्तर्गत शब्द ब्रह्मही है और कर्म्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डोंमें ही अन्तर्याग और बहिर्याग रूपसे दो प्रकारके यजन होना भी सर्वमान्य है† फलतः वेदके लाघव-

* येते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विशतारुशन्तः। सिनन्तु सर्वेऽनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु। इतियजुः श्रुतिः।

† सर्वे वेदा अन्तर्यागपरा बहिर्यागपराश्चेति। मन्त्रसूत्रभाष्ये।

गौरवविचारके विषयमें भावुकगण भावोंका जितना अधिक अनुसन्धान कर सकेंगे उतनी ही वेदके अनन्त भावोंकी अलौकिकताकी छटा दृष्टिगोचर होगी । इस वैदिक अनन्त भावराज्यका प्रकाश करानेमें निरुक्तशास्त्र प्रधान अवलम्बनीय है ।

छन्दःशास्त्र कुछ विलक्षण ही है, जिस प्रकार शिक्षाशास्त्र स्वरकी सहायतासे वैदिक कर्म्मकाण्ड और उपासनाकाण्डमें सहायता किया करता है उसी प्रकार यह छन्दःशास्त्र भी छन्दोविज्ञानकी सहायतासे अलौकिक शक्तियोंका आविष्कार करके वैदिक ज्ञानके विस्तार करनेमें और कर्म्ममें सफलता प्राप्त करानेमें बहुत ही उपकारी है । सिद्ध और साधकरूपसे जिस प्रकार ध्वनिके साथ अक्षरका सम्बन्ध होता है उसी नियमके अनुसार शिक्षाशास्त्रका सम्बन्ध छन्दःशास्त्रसे समझना चाहिये । यदि च स्वरसंयुक्त ध्वनि ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक दोनों भावोंसे ही संयुक्त रहा करती है परन्तु अन्तर्विभागरूपसे सार्थकध्वनिमें छन्दकी स्थिति सदा रहती है । मुखसे जो कुछ शब्द उच्चारित हो वह जिस प्रकार अवश्य स्वरमय होगा

इसी रीति पर वह अवश्य ही छन्दोमय भी होगा। फलतः स्वरके स्वतन्त्र २ विभागोंके विचार द्वारा जिस प्रकार स्वतन्त्र २ शक्तियां मनुष्यके अन्तःकरण-में प्रकट होती हैं उसी प्रकार स्वतन्त्र २ छन्दोमय विशेष २ प्रतिक्रियाकी विशेष २ शक्ति द्वारा कुछ और ही विशेष शक्तियोंका प्रादुर्भाव जीवके अन्तःकरणमें हुआ करता है। फलतः छन्दःसमूह भी विशेषशक्तियुक्त होनेके कारण छन्दोज्ञानके प्रकाश करनेके अर्थ पूज्यपाद महर्षियोंने इस छन्दःशास्त्रका प्रणयन किया है। जिस प्रकार शिक्षाशास्त्रद्वारा ह्रस्वादि अथवा षड्जादि स्वर, श्रुति, मूर्च्छना और रागरागिनीसमूह स्वतन्त्र २ रूपसे अपनी २ प्रकृति शक्तिके अनुसार शान्त, करुण आदि रसोंका आविर्भाव किया करते हैं उसी नियमके अनुसार स्वतन्त्र २ छन्दःसमूह भी अपनी २ स्वतन्त्र २ प्राकृतिक शक्तिके अनुसार स्वतन्त्र २ भावोंका उदय करके वैदिक क्रियाके कुछ विलक्षण कार्य्यमें ही तत्पर रहा करते हैं, इसी कारण स्वतन्त्र २ छन्द स्वतन्त्र २ कार्य्यमें काम आया करते हैं *। वैदिक सात छन्द, जो

* त्रिष्टुभौभवत: सेन्द्रियत्वाय गायत्र्यौत्विट्कृत: संयाज्ये

दार्शनिक सत प्राकृतिकपरिणामके मूलभूत हैं, उन पर विचार करनेसे वैदिक छन्दोंकी वैज्ञानिक भित्तिका कुछ प्रमाण मिल सकेगा। चाहे साधकका लक्ष्य स्वर्ग अथवा लौकिक भोगवासनाएँ हों अथवा मोक्षसिद्धि हो, परन्तु छन्दोविज्ञानमय वैदिकमन्त्रसमूह यदि छन्दोविज्ञानके अनुसार काममें लाये जायँ तो सफलता प्राप्त करनेमें सुविधा रहेगी, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। वैदिक अनुष्ठानादिमें छन्दोंका अधिक विचार रहनेके कारण छन्दोंकी यह और भी विलक्षणता पाई जाती है कि अदृष्टफलोत्पादक वेदमन्त्रकी शक्तिको छन्दोविज्ञान भी पूर्णरूपसे सहायता किया करता है। प्रतिकृतिका विस्तार अनन्त है इस कारण छन्द भी अनन्त हैं तथा छन्दःशास्त्रके वक्ता महर्षियोंने जीवोंके कल्याणार्थ प्रधान २ छन्दोंको नियमबद्ध करके छन्दःशास्त्रोंमें प्रकट

कुर्वीत तेजस्कामो ब्रह्मवर्चस्काम: तेजो वै ब्रह्मवर्चः गायत्री तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी भवति य एवं विद्वान् गायत्र्यौ कुरुते उष्णिहा वायुष्काम: कुर्वीत अनुष्टुभौ स्वर्गकाम: कुर्वीत द्वयोर्वा अनुष्टुभोश्चतु:षष्टिरक्षराणि त्रय इम ऊर्द्ध्वा एकविंशालोका एव त्रिंशत्यैकविंशत्यैवेमांल्लोकान्तोहति स्वर्गएव ।

किया है। वैदिक छन्दःशास्त्रके ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो गये हैं। इस शास्त्रका थोड़ा ही अंश अब पाया जाता है और किसी किसी ब्राह्मणग्रन्थमें इसका कुछ वर्णन भी मिलता है।

समष्टि और व्यष्टिरूपसे ब्रह्माण्डरूपी यह संसार और पिण्डरूपी प्रत्येक मनुष्यका देह एकत्वसम्बन्धयुक्त है। इसी कारण आर्य्यशास्त्रोंमें वर्णित है कि जो कुछ बहिर्ब्रह्माण्डमें हैं वेही देवता भूतसमूह और ग्रह नक्षत्र आदि सब इस देहमें स्थित हैं * फलतः मनुष्य अनन्त आकाशव्यापी सौरजगत् की एक क्षुद्र प्रतिकृति है एवं

---

* त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः ।
समष्टिव्यष्टिरूपेण पिंडब्रह्माण्ड उच्यते ॥ [इति याज्ञवल्क्यः]
देहेऽस्मिन्वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः ।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः ॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्त्तन्ते पीठदेवताः ॥
सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभो वायुश्च वन्हिश्च जलं पृथ्वी तथैव च ॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः ।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्त्तते ॥
[इतिशिवसंहितायाम्]

सौर जगत्के साथ इस प्रकार एकत्वसम्बन्ध रहने-के कारण सौरजगत्के अनुसार उसमें परिवर्तन होना युक्तियुक्त है। जिस प्रकार प्राकृतिक अन्तर राज्यकी मूलशक्ति चेतन और जड़रूपसे दो भागों में विभक्त है उसी प्रकार प्रतिप्रकृतिकी बहिःशक्ति भी सम और विषमरूपसे दो भागोंमें विभक्त है। इसी दो प्रकार की सम और विषम तडित्शक्ति द्वारा दो प्रकारके स्वतन्त्र कार्य्य हुआ करते हैं अर्थात् एक शक्ति द्वारा आकर्षण और दूसरी शक्ति द्वारा विक्षेपणकी चेष्टा हुआ करती है। अपने इस विज्ञानका यह रहस्य है कि जिस प्रकार अन्तःकरणमें ये दोनों शक्ति और इनके आकर्षण विक्षेपण और इनकी सहायतासे मानसिक प्रवृत्तिमें परिवर्तन व मनुष्योंकी आन्तरिक वृत्तिमें परिवर्तन उत्पन्न हुआ करते हैं उसी नियमके अनुसार समष्टिब्रह्माण्डकी शक्तियों द्वारा भी इस बहि-र्जगत्में सृष्टिस्थितिलयात्मक नानाप्रकारका परि-वर्तन हुआ करता है। अपिच मनुष्यके अन्तः-करणमें जिस प्रकारसे ये शक्तियां विद्यमान हैं उसी प्रकारसे ग्रह, सूर्य्य, चन्द्र और नक्षत्र आदिमें भी विद्यमान हैं एवं उनकी इस प्रकारकी शक्ति-

योंका प्रभाव जैसे उनके ऊपर रहा करता है उसी प्रकार जहांतक उनकी शक्ति पहुंच सक्ती है वहां तकके अन्यान्य ग्रह, नक्षत्र तथा ग्रहनक्षत्रवासी जीवसमूहों पर भी यथाक्रम पड़ा करता है। इस वैज्ञानिक सिद्धांतके अनुसार प्रत्यक्षसिद्ध गणितज्योतिषका तादात्म्यसम्बन्ध अप्रत्यक्षसिद्ध फलितज्योतिषके साथ रहना युक्ति और विज्ञानसे सिद्ध है * । प्राचीनकालमें इस अलौकिक विज्ञानकी चरम उन्नति भारतवर्षमें हुई थी एवं पूज्यपाद महर्षियोंमेंसे अनेक ही इस दिव्य शास्त्रके आचार्योंकी श्रेणीमें देख पड़ते हैं, उनमेंसे बहुतेरोंकी ज्योतिषसंहिताएँ अब तक भी पाई जाती हैं † । यह शास्त्र अन्यान्य वेदाङ्गोंके बीच अति विस्तृत और परम आवश्यकीय है, सो पूज्यपाद महर्षिगण भी षडङ्गवर्णन करते समय आज्ञा

---

* गणित फलितञ्चैव ज्योतिषंतु द्विधा मतम् ॥
[सूर्यसिद्धान्ते]

† सूर्यः पितामहो व्यासो वशिष्ठात्रिपराशराः ॥
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिराः ॥
लोमशः पैलिशश्चैव च्यवनो यवनो गुरुः ।
शौनकोऽष्टादशश्चैते ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तकाः ॥
[सूर्यसिद्धान्ते]

कर गये हैं * यदि च सृष्टिके मूलकारणरूपी कारणब्रह्म विश्वकर्ता सृष्टिसे अतीत हैं परन्तु कार्य्यब्रह्मरूपी यह प्राकृतिक ब्रह्माण्ड देशकाल-से परिच्छिन्न है । अपिच कर्म्मके साथ कालका साक्षात् सम्बन्ध रहनेके कारण कर्म्मको कालको अधीनता माननी पड़ती है। फलतः कालज्ञानके साथ जो कर्म्म किया जाता है उसका ही पूर्णरूपसे सुसिद्ध होना सम्भव है । ज्योतिष कालके स्वरूप-का प्रतिपादक है और उत्तराङ्ग फलितज्योतिष कालके अन्तर्गत रहस्योंका प्रकाशक है, इस कारण वेदोंके कर्म्मकाण्डका ज्योतिष शास्त्रके साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है; क्योंकि कर्म जब कालके अधीन हैं तो कर्म्मकाण्ड भी ज्योतिष शास्त्रके अधीन रहकर करना हितकारी होगा। आज दिन इस ज्योतिषशास्त्रकी घोर अवनति भी आर्य्य जातिके सदाचार और कर्म्मकाण्डकी हानि-का प्रधान कारण है। गणितज्योतिष द्वारा बहि-

* यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा ।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्द्धनि स्थितम् ॥
वेदाहि यज्ञार्थमभिप्रवृताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः ।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान् ॥
[इति षडङ्गज्योतिषे]

जगत्सम्बन्धीय ग्रहनक्षत्रसमूहोंके परिवर्तन और कालके विभागका निर्णय किया जाता है और फलितज्योतिषद्वारा ग्रहनक्षत्र आदिकी गतियोंकी सहायतासे इस जगत्के एवं इस जगत्‌सम्बन्धीय यावत् सृष्टि व मनुष्योंके आन्तरिक परिवर्तनोंका निर्णय हुआ करता है । ज्योतिषशास्त्रके ये दोनों ही अङ्ग मानवगणके लिये बहुत ही उपकारी हैं । ज्योतिषग्रन्थोंमें इस शास्त्रकी सर्वोपरि आवश्यकता, सर्वजीवहितकारिता और सर्वशास्त्रोंमें प्रधानता वर्णित है सो विचारशील मनुष्योंके निकट कुछ अत्युक्ति नहीं प्रतीत होगी । प्रथम तो ज्योतिषशास्त्रके अनेक प्रधान २ आर्ष ग्रन्थ लुप्त होगये हैं । यद्यपि अन्य वेदाङ्गोंसे इस वेदाङ्गके ग्रन्थ अब भी अधिक उपलब्ध होते हैं परन्तु प्रधान २ सिद्धान्त ग्रन्थोंमें बहुतसे लुप्त होगये हैं । द्वितीयतः इस शास्त्रका संस्कार बहुत दिनोंसे नहीं हुआ है । इस शास्त्रका अधिक सम्बन्ध आधिभौतिक सृष्टिके साथ रहनेके कारण प्रकृतिकी स्वाभाविक त्रिगुणात्मक चेष्टाके अनुसार ग्रह आदिककी गतिमें भी क्रमशः परिवर्तन होना स्वतः सिद्ध है । प्रत्येक शताब्दीमें ग्रहनक्षत्रोंकी चालमें

फेर पड़ जाया करता है, उस त्रुटिको परिशुद्ध करनेके दो उपाय हैं, प्रथम योगदृष्टिद्वारा जिसका वर्णन योगदर्शनके तृतीयपादमें है और दूसरा उपाय यह है कि लौकिक बुद्धि द्वारा यन्त्रालयनिर्म्माणपूर्वक दृग्गणितकी सहायतासे संस्कार किया जाय। योगसहायताकी शैली इस समय लुप्तप्राय होगई है। ज्योतिषशास्त्रका आविर्भाव आदिकालमें आर्य्यजातिमें ही हुआ था, इसमें सन्देह ही क्या है? क्योंकि यह वेदाङ्ग है और परम्परारूपसे इस शास्त्रका ज्ञान भारतवर्षसे ही अन्यत्र विस्तृत हुआ है और अब उद्यमशील पाश्चात्य जातियोंने इसमें विशेष उन्नति की है। इस समय ज्योतिषयन्त्रालयनिर्म्माणके विषयमें और दृग्गणितकी सहायतासे गणित ज्योतिषके संस्कारके विषयमें पाश्चात्यजातियोंने बहुत कुछ उन्नति की है। उनकी गणना प्रत्यक्ष फलप्रद भी होने लगी है। आर्य्यजातिमें अनेकानेक विप्लव और दुर्दैवोंके कारण कई शताब्दियोंसे गणितज्योतिषकी सारणीका संस्कार नहीं हुआ है, इस कारण भारतवर्षमें ज्योतिषयन्त्रालयके निर्म्माण द्वारा अपने प्राचीन ग्रन्थोंको व पाश्चात्य जातिकी नवीन दृग्गणित

की शैलीकी सहायतासे इस शास्त्रके अभ्युदयमें यत्न करनेसे अवश्य सफलता प्राप्त होगी ।

तृतीय अध्याय ।

सप्तदर्शन ।

जिस प्रकार बहिर्जगत्सम्बन्धीय उन्नतिका प्रथम सोपान शिल्पसम्बन्धीय उन्नति समझी जा सक्ती है उसी प्रकार अन्तर्जगत्सम्बन्धीय उन्नति का प्रथम सोपान दार्शनिक उन्नतिको मान सक्ते हैं । जिस प्रकार राजसी बुद्धिका विकास शिल्प-कला आदिकी उन्नति द्वारा प्रमाणित होता है उसी प्रकार सात्त्विकबुद्धिका विकास दार्शनिक उन्नति द्वारा समझा जा सक्ता है । संसारमें जो जो जातियां ज्ञानोन्नतिमें अग्रसर होती हैं उनमें दार्शनिकबुद्धिका उदय होना स्वतःसिद्ध है । प्राचीन अरब, मिसर और रोमन जातियोंमें और अर्वाचीन यूरोप और अमेरिकन जातियोंमें भी इस ज्ञानपरिणामके अनुसार दार्शनिक ज्योतिका विकास यथासम्भव हुआ है । परन्तु आर्य्यजाति-में दार्शनिक ज्ञानके आविर्भावकी तुलना उनके

दार्शनिक ज्ञानोदयके साथ नहीं हो सक्ती । प्राचीन आर्य्यजाति तथा अर्वाचीन अन्य जातियाँ, इन उभय जातियोंके दर्शन शास्त्रोंके ज्ञातामात्र ही साधारण विचारसे समझ सकेंगे कि अर्वाचीन अन्य जातियां अपने दार्शनिक विचारमें अभीतक वृद्धगुरु भारतके सन्मुख बालक विद्यार्थी ही हैं । इस संसारमें दो शक्तियां प्रतीत होती हैं, एक जड़ दूसरी चेतन, एक शारीरिकशक्ति दूसरी जीवनीशक्ति, एक प्रकृतिशक्ति दूसरी पुरुषशक्ति, जिनमेंसे जड़शक्ति स्थूल और चेतनशक्ति अतिसूक्ष्म अतीन्द्रिय है । जड़शक्तिका राज्य जगत् सृष्टिके विस्तारमें है और चेतनभावका राज्य उससे परे है। जडशक्ति साधारणरूपसे अनुभवयोग्य है किन्तु चेतनभाव जडराज्यकी शेष सीमामें पहुंचने पर केवल अनुमान करने ही योग्य है। आजदिन अर्वाचीन अन्य जातियोंमें जितने दर्शनशास्त्र प्रकाशित हुए हैं वे सब अभीतक जड़जगत्में ही भ्रमण कर रहे हैं, यद्यपि उन्होंने जड़जगत्में बहुत कुछ अन्वेषण कर लिया है तथापि चैतन्यजगत्का वे दूरसे भी निरीक्षण नहीं कर सके हैं ; यदि च अर्वाचीन अन्य विद्वानोंने जड़राज्यकी कुछ छानबीन की है तथापि

उनको अभी तक यहभी ज्ञान नहीं है कि इस जड़भावके अतिरिक्त और कोई चेतनभाव है या नहीं? जब उनकी यह दशा है, जब देखते हैं कि वे प्रकृतिराज्यमें ही भ्रमण कर रहे हैं और उन्होंने प्रकृतिको ही सब कुछ मान रक्खा है, जब देखते हैं कि पुरुषका सामान्य ज्ञानमात्रभी उनको अभी तक नहीं मिला है, जब देखते हैं कि जीवभाव, पुरुषभाव, ईश्वरभाव, ब्रह्मभाव आदि चेतनजगत्सम्बन्धीय किसी भावका भी यथार्थ रूप उनके अनुमानमें नहीं आया है और जब देखते हैं कि अभीतक अर्वाचीन दार्शनिकगण जड़जगत्के मायाराज्यमें ही अपनेको भूल रहे हैं तब कैसे नहीं विश्वास करेंगे कि वे दार्शनिकज्ञानमें अभी बालक ही हैं। अन्तजगत्सम्बन्धीयविचाररूप महासागरके दो तट हैं एक ओरका तट तो यह विस्तृत संसार है और दूसरी ओरका तट ब्रह्मसद्भावरूप निर्वाण पद है; इस विचार भूमिके एक ओर संसाररूप इन्द्रियगम्य विषय और दूसरी ओर अतीन्द्रिय ब्रह्मपद है। अर्वाचीन दार्शनिकगण यदि च प्रथम तटकी ओरसे आगे बढ़ गये हैं; परन्तु वे इस विस्तृत महाज्ञान समुद्रमें थोड़ी दूर अग्रसर होते

ही निराश हो पुनः पीछेकी ओर देखने लगे हैं और अपनी असम्पूर्ण ज्ञानशक्तिके कारण यही समझने लगे हैं कि इस महासमुद्रके चारों ओर पूर्वभूमिके सदृश दृश्यविषय संसार ही है; उनको केवल एक तटका ही सम्वाद विदित होनेके कारण वे केवल इस महाज्ञानसागरके बीच दिग्भ्रमवश होरहे हैं इस कारण उनको यही प्रतीत होता है कि जो कुछ है सो जड़प्रकृति ही है। इसका प्रधान कारण यह है कि आर्य्यजातिमें जिस प्रकार दार्शनिक ज्ञानका आविर्भाव हुआ है उस प्रकारसे अर्वाचीन जातियोंमें नहीं हुआ है। आर्य्य-जातिकी अन्तर्दृष्टिके पानेकी शैली यह है कि प्रथम वर्णश्रेष्ठ ब्राह्मणगण स्वधर्म्मपालनपूर्वक विशुद्ध-चित्त होते हैं, तत्पश्चात् विषयवैराग्यसम्पन्न होकर निवृत्तिमार्गगामी होते हुए योगसाधनपरायण होते हैं। उक्त योगिजनोंकी समाधिस्थ बुद्धि द्वारा जो दार्शनिक सिद्धान्त प्रकट होता है सो अवश्य ही अभ्रान्त होता है। अर्वाचीन जातियोंमें आर्य्य-जनोचित शैलीका नाममात्र भी नहीं है; उनमें केवल साधारण बुद्धि द्वारा अनुसन्धान करते हुए बाहरसे भीतरकी ओर चलनेका यत्न होता है।

फलतः वहांके दार्शनिकोंमें अभ्रान्त सिद्धान्तका प्रकट होना सम्भव नहीं है ।

सनातनधर्मके विज्ञानानुसार जीवकी अधः-पतित दशाकी जिस प्रकार सप्त अज्ञानभूमि मानी गई हैं उसी प्रकार साधक की क्रमोन्नति को सप्तज्ञान-भूमिमें विभक्त किया गया है । अध्यात्म उन्नतिके सात क्रम हैं * उन्हीं सात क्रमोंके अनुसार वैदिक दर्शन शास्त्रोंको भी पूज्यपाद महर्षियोंने केवल सात श्रेणीमें ही विभक्त किया है और पुनः त्रिभावोंके के अनुसार वे सप्तदर्शन तीन भावमें विभक्त हैं । यथाः—न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन पदार्थवाद-सम्बन्धीय, वैसेही सांख्यदर्शन और योगदर्शन सांख्यप्रवचनसम्बन्धीय हैं और कर्म्ममीमांसा भक्तिमीमांसा और ब्रह्ममीमांसा ये तीनों वेदोंके काण्डत्रयके अनुसार मीमांसासम्बन्धीय दर्शन कहाते हैं। इन सातोंके अतिरिक्त और किसी दार्श-निक सिद्धान्तको आर्य्यगण स्वीकार नहीं करते। जो कोई और दर्शन देखने व सुननेमें आते हैं वे अन्त-र्भावरूपसे इन्हीं सातोंमें प्रविष्ट हैं। इन सातोंमेंसे

* सप्तानां ज्ञानभूमीनां, साधकस्याखिलस्य च
भेदाद्विरोध इत्येवं दर्शनेषु प्रतीयते ॥ इतिवेदव्यासः ॥

प्रथम अधिकार पदार्थवादका है। पदार्थवादका न्यायदर्शन षोड़श पदार्थ मानता है और उनके यथार्थ ज्ञानसे ईश्वरका ज्ञान होना और मुक्ति पदका उदय होना स्वीकार करता है * न्याय दर्शनकी एक विशेष शक्ति यह है कि वह जिज्ञासु-को यथार्थरूपसे वादकी सहायतासे ज्ञानानुसन्धा-नकी योग्यता कराता है। वैशेषिक दर्शन षट् पदा-र्थोंकी नित्यता मानता है † इस दर्शनकी विलक्ष-णता यह है कि धर्माधर्मका निर्णय करनेमें यह दर्शन अधिक सहायक होता है। ये दोनों दर्शन ही परमाणुको नित्य मानते हैं और सृष्टिप्रकरणमें ये दोनों दर्शन ईश्वरको निमित्तकारण मानते हैं। वास्तवमें ये उभय पदार्थवादसम्बन्धीय दर्शन धर्म्माधर्म्मनिर्णय, सत्यकी प्रतिष्ठा कराने और अन्य दर्शनोंके रहस्योंको समझानेमें विशेष सहा-

---

* प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्ण-यवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञा-नान्निःश्रेयसाऽधिगमः ॥ इति न्यायदर्शने महर्षिगौतमः ॥

† धर्म्मविशेषप्रसूताद्‌द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ।

इति वैशेषिकदर्शने महर्षिकणादः ॥

यता देते हैं। पदार्थवाददर्शनशास्त्रके सम्बन्धमें
बहुतसे अर्वाचीन पुस्तक बने हैं वे नव्यन्याय नाम-
से अभिहित होते हैं। यद्यपि नव्यन्याय धर्म्माधर्म्म-
निर्णय, तत्व निर्णय और अन्य दर्शनोंके प्रवेशमें
सहायक नहीं होते परन्तु जल्प वितण्डा*के अवल-
म्बसे खण्डनमें और वादके पुष्ट करानेमें, सभा जय
करनेमें और जगत्में वाक्यकी विभूति प्रकाशित
करनेमें विशेष सहायक हैं। न्यायदर्शन और वैशेषि-
कदर्शनकी शिक्षा प्राप्त करनेमें सर्वथा प्राचीन आर्ष
ग्रन्थोंको मुख्य और नवीन ग्रन्थोंको गौण मानकर
शिक्षा देनी उचित है। इस समय भारतवर्षके किन्हीं २
स्थानोंमें जो केवल नवीनन्यायशिक्षाकी शैली
प्रचलित है सो आध्यात्मिक उन्नतिके लिये हित-
कर नहीं है। इस विचार पर स्थित रहकर पदार्थ-
वादसम्बन्धीय दर्शनकी शिक्षाका संस्कार होना
उचित है।

सांख्यदर्शन प्रकृति पुरुषके संयोगसे सृष्टि
मानता है और दोनोंको नित्य मानता है। इस

---

* यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः। सत्प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहणार्थं कण्टकशाखावरणवत्॥
न्यायदर्शनम्।

दर्शन विज्ञानके अनुसार चौबीस तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। यथा—मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, मन, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चभूत और पञ्चकर्मेन्द्रिय। इन चौबीस तत्त्वोंके अतिरिक्त पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष है। पुरुष निःसङ्ग अपरिणामी और ज्ञानमय है और प्रकृति त्रिगुणमयी परिणामिनी और सङ्गशीला है। इस दर्शनके अनुसार जीवकी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिकरूपी त्रिविध दुःखोंसे निवृत्ति होकर मुक्ति तभी होती है जब पुरुष प्रकृतिको पहचान लेता है। सांख्यदर्शनके अनुसार पुरुष असंख्य हैं। तत्त्वज्ञान होने पर पुरुष मुक्त होजाता है और उस मुक्तजीवके अंशकी प्रकृति मूलप्रकृतिमें मिल जाती है, इसीको प्रकृतिकी मुक्ति अथवा पुरुषकी मुक्ति दोनों ही कहते हैं। इस दर्शनमें एक विलक्षणता यह है कि यद्यपि यह दर्शन पूर्णरीतिसे वेदानुगामी है परन्तु कहता है कि हमारी ज्ञानभूमिके अनुसार ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती। इसी विलक्षणताके कारण कोई कोई इस दर्शनको निरीश्वरसांख्य और योगदर्शनको सेश्वरसांख्य कहते हैं और इसी भ्रम के कारण इस दर्शनकी विलक्षणतासे भ्रमाक्रान्त

होकर बौद्ध और जैनधर्म्मावलम्बी दार्शनिकगण निरीश्वरवादी बन बैठे हैं। परन्तु वास्तवमें सांख्य-दर्शन नास्तिक नहीं है। सांख्यदर्शनके अनुसार जो मुक्ति है सो जीव शरीरमें कूटस्थ दशामें प्राप्य है तदतिरिक्त सर्वव्यापक चेतनसत्ताका अनुमान इस भूमिमें नहीं होसक्ता। इसी कारण अपने दार्शनिक विज्ञानकी दृढ़ताके लिये उक्त दर्शनने ऐसा कहा है वास्तवमें ईश्वरका खण्डन नहीं किया है। यह दर्शन ज्ञानवृद्धिके लिये परम सहायक है। इसके अनेक ग्रन्थ लुप्त होगये हैं तो भी अब भी आवश्यकीय कुछ ग्रन्थ मिलते हैं।

योगदर्शनकी रीति सब दर्शनोंसे विलक्षण है, यह दर्शन सर्वश्रेष्ठ योगानुशासनका निर्णायक है, सब दर्शन मतोंसे अविरुद्ध है, सब दर्शनोंका मान्य है और तीनों मीमांसादर्शनोक्त त्रिविध पुरुषार्थकी मूल-भित्तिरूप है। इस दर्शनकी सर्वोपरि विलक्षणता यह है कि यह केवल दो प्रकारका कर्म्म मानता है; एक दृष्ट और दूसरा अदृष्ट। अन्य दर्शन अधिक कर्म्म मानते हैं परन्तु योगदर्शनका दृढ़ सिद्धान्त यही है कि योगीके पुरुषार्थसे दृष्टकर्म्म अदृष्ट हो सक्ते हैं और अदृष्ट कर्म्म दृष्ट हो सक्ते हैं। योग-

दर्शनका विज्ञानांश सांख्य और वेदान्त दोनोंसे मिलता हुआ है और क्रियासिद्धांशमें दोनोंका सहायक है। योगविज्ञानके अनुसार चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा स्वरूपका विकाश और स्वरूपके विकाशसे मुक्ति मानी गई है। साधन और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तिका निरोध होता है, साधनके प्रधानतः आठ अङ्ग माने हैं। यथा—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इस साधारण क्रमके अतिरिक्त चित्तवृत्तिका निरोध करके मुक्ति पद प्राप्त कराने के और कई उपाय बताये हैं जिनमें ईश्वरप्रणिधान सर्वप्रधान रक्खा गया है। इस दर्शनमें सिद्धि प्राप्त करनेके भी अनेक उपाय वर्णित हैं। यह दर्शन असाधारण विभूतिसे पूर्ण है और विना अन्तर्मुख वृत्ति हुए न कोई पुरुष इसको यथार्थरीतिसे पढ़ा सक्ता है न कोई पुरुष इसको यथार्थरीतिसे पढ़ सक्ता है। इस दर्शनके अनेक सूत्रकार प्राचीन कालमें थे, अब भी केवल महर्षि पतञ्जलिकृत योगसूत्र उपलब्ध होता है जिस पर श्रीभगवान् वेदव्यासकृत भाष्य है।

सब दर्शनोंमें कर्म्ममीमांसा दर्शन अति विस्तृत

है। प्रथम तो वेदका कर्म्मकाण्ड ही अन्य दोनों काण्डोंसे विस्तृत है, द्वितीयतः यह सृष्टिक्रिया कर्म्ममूलक है और तृतीयतः कर्म्मका वैचित्र्य अनन्त है। इस समय इस मीमांसा दर्शनका केवल महर्षि जैमिनिकृत एक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। उक्त ग्रन्थमें प्रधानतः वैदिक कर्म्मकाण्डका विषय ही अधिक वर्णित है। प्राचीनकालमें इस दर्शन सिद्धान्तके अनेक ग्रन्थ थे। कर्म्मविज्ञान, संस्कार-विज्ञान, कर्म्मके भेद, सृष्टिविज्ञान, कर्म्मयोग-विज्ञान, जीवन्मुक्तितत्त्व, वर्णाश्रमधर्म्मविज्ञान, लोकान्तरविज्ञान, शारीरिकविज्ञान, जन्मान्तर-वादविज्ञान, चन्द्रगतिसूर्य्यगतिविज्ञान, पाप-पुण्यविज्ञान, विहितकर्म्मविज्ञान इत्यादि अनेक कर्म्मरहस्यपूर्ण दार्शनिकतत्त्व इस दर्शन सिद्धान्त के अन्तर्गत हैं। अभीतक जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं वे सब असम्पूर्ण होनेके कारण उनमें ये सब विषय नहीं मिलते तौ भी नित्य, नैमित्तिक, काम्य-कर्म्मोंके अनेक रहस्य और वैदिक कर्म्मकाण्डके अनेक औत्पत्तिक अंश प्राप्त होते हैं। इस विषयका अवश्य यत्न होना चाहिये कि इस परमावश्यकीय दर्शनशास्त्रके ग्रन्थोंका अनुसन्धान किया जाय।

उपासनाकाण्डकी सहायक भक्तिमीमांसा अन्य दोनों मीमांसाकी परमहितकर है। इस दर्शन सिद्धान्तमें भगवान्‌को रसरूप माना है और भक्तिसे मुक्तिकी उत्पत्ति मानी है। इस दार्शनिक सिद्धान्तमें भक्तिका लक्षण, भक्तिके भेद, परा-भक्ति और ब्रह्मसद्भावकी ऐक्यता, अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत रहस्य, ऋषि देवता और पितरोंका स्वरूप कथन और उनका नित्यत्व वर्णन, ईश्वर देवता और ऋषियोंके अवतारोंका वर्णन, भगवद्भक्तिका महत्व, अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत सृष्टिभेद, सृष्टि-स्थिति-लयका क्रम, उपासनाविधि, प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्ग, ब्रह्म और प्रकृतिका अभेद वर्णन, देवता ऋषि और पितरोँकी तृप्तिका उपाय, यज्ञ महायज्ञके भेद, त्रिविध समर्पण, सप्तविध ध्यान, तीन काण्डोंके अनुसार मुक्तिके तीन अनुभव इत्यादि अनेक वैज्ञानिक रहस्योँका विकास है। प्राचीनकालमें इस दर्शन सिद्धान्तके अनेक आचार्य थे। इस समय इस दर्शनका एक भी सिद्धान्त ग्रन्थ पूर्ण रीतिसे उप-लब्ध नहीं होता है। ऐसा यत्न होना चाहिये कि इस दर्शन सिद्धान्तके लुप्त ग्रन्थोंका अनुसन्धान

होसके और तीनों मीमांसा दर्शन साथही साथ पढ़ाये जायं।

वेदान्त दर्शनकी ज्ञानभूमि सर्वोपरि है। इस दर्शनका नामही इसकी उच्चतम ज्ञानभूमिका निर्णायक है। इस दर्शनके सिद्धान्तके अनुसार सृष्टि अनित्य और मायाका वैभव मानी गई है। इस संसारके सब सोपाधिकभावोंको इस दर्शनने मिथ्या करके माना है; इस विज्ञानके अनुसार ब्रह्मको सुवर्णवलय न्यायसे कार्य्य ब्रह्मरूपी ब्रह्माण्डका उपादान कारण माना है। जिस प्रकार प्रस्तरस्तम्भमें खुदी हुई मूर्त्तियां स्तम्भसे अलग नहीं हैं उसी प्रकार इस दर्शनके मतमें जगत् ब्रह्मसे अतीन नहीं है। इस दार्शनिक मतके अनुसार रज्जुमें सर्प भ्रमकी न्याइं, शुक्तिमें रजत भ्रमकी न्यांईं, और मरीचिकामें जलभ्रमकी न्यांईं मायाके वैभवसे ब्रह्ममें ही जगत्का भ्रम होता है। वास्तवमें एक अद्वितीय सर्व्वव्यापक अविकारी स्वतःपूर्ण सच्चिदानन्दरूपी ब्रह्मके सिवाय और द्वितीय वस्तु कुछ है ही नहीं। वास्तवमें यह उच्च विज्ञान उपनिषदों का सारभूत है। यही सब दर्शनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही जीवन्मुक्तपदका अनुभूतभाव है। दर्शन

का अर्थ जिस प्रकार नेत्र है उसी प्रकार यह शास्त्र मुमुक्षुके लिये नेत्ररूप है।

एक दर्शनका अध्ययन करनेसे पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होसक्ती। पूर्णज्ञान प्राप्तिके लिये सातों दर्शनोंका रहस्य बोधगम्य करना सर्वथा कर्तव्य है। इस समय प्रथमतो सब दर्शन ग्रन्थ मिलते नहीं और दूसरे जो मिलते भी हैं वे सब समान आवश्यकताके साथ यथानियम और यथाक्रम पढ़ाये भी नहीं जाते इसी कारण वैदिक विज्ञानके समझनेमें भी असम्भावना रहती है और दार्शनिक ज्ञानका यथाक्रम बोध न होनेसे ही पुराणतन्त्रादि शास्त्रोंका रहस्य भी लोगोंकी समझमें नहीं आता। अपिच षडङ्ग और सप्तदर्शनका विधिपूर्वक प्रचार होना उचित है। ऊपरकी दृष्टिसे कोई २ ऐसा समझते हैं कि इन दर्शनोंके मतोंमें घोर मतभेद है परन्तु ऐसा नहीं है लक्ष्य सबका एक ही है केवल ज्ञानभूमिके तारतम्यसे वैसा भान होता है *।

---

* मानेऽस्यड्त्रिकणादवाक् कपिलवाक् त्वंशब्दवाच्ये तदो
वाच्ये शाण्डिलजादिवाक् फणिवचस्तात्पर्य्यवद्धीग्रहे।
मीमांसा मतिशोधिकर्म्मनिचये वेदान्तशास्त्रोक्तय-
स्तत्वं लक्ष्यविनिर्णयेऽनभिमते का वा विरोधे क्षतिः॥
इति श्रीमत्पूज्यपादमधुसूदनसरस्वती।

चतुर्थ अध्याय ।

उपवेद ।

जिस प्रकार श्रीभगवान्की कृपासे जीवोंको अलौकिक सहायता देनेके अर्थ महर्षिगणोंके योगयुक्त अन्तःकरणमें अपौरुषेय वेदोंका आविर्भाव हुआ है उसी प्रकार जीवोंकी लौकिक सहायताके अर्थ महर्षियोंने अनेक पदार्थ विद्या सम्बन्धीय, शिल्प सम्बन्धीय और कला सम्बन्धीय अनेक शास्त्रोंका प्रणयन किया था, वे शास्त्र चार भागों में विभक्त हैं और ये उपवेद कहाते हैं। यथा—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और स्थापत्यवेद * । जिस प्रकार लौकिक पुरुषार्थयुक्त योग, साधनयुक्त उपासना और वैदिककर्म्म परम्परारूपसे अलौकिक मुक्ति पदकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं, जिस प्रकार यावत् लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय परम्परा रूपसे निःश्रेयस प्राप्तिके सहायक होते हैं, जिस प्रकार धर्म्म अर्थ और काम ये तीनों परम्परा रूपसे अन्तिमफल मोक्षकी प्राप्तिमें हेतु होते हैं

---

* आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः ।
स्थापत्यवेदमपरमुपवेदश्चतुर्विधः ॥

और जिस प्रकार किसी जीवकी लौकिकउन्नति उसकी आध्यात्मिक उन्नतिका उपाय होता है उसी प्रकार ये उपवेद समूह मनुष्यकी क्रमोन्नतिके सहायक हैं और क्रमोन्नतिके परम्परारूपसे सहायक होनेके कारण ये पौरुषेय होने पर भी उपवेद कहाते हैं।

सकल प्रकारके साधनके लिये शरीर मुख्य कारण है। शरीर स्वस्थ और सबल बिना रहे मनुष्य न ऐहलौकिक उन्नति कर सक्ता है और न पारलौकिक उन्नति कर सक्ता है। इस कारण शारीरिक मङ्गलका सहायक चिकित्साशास्त्ररूपी आयुर्वेद सबसे प्रथम माना गया है। आर्य्यजाति के आयुर्वेदमें सृष्टिविज्ञान, शारीरिकविज्ञान, धातुविज्ञान, रोगोत्पत्तिविज्ञान, रोगपरीक्षाविज्ञान, काष्ठादिकचिकित्साविज्ञान, रसायनचिकित्सा विज्ञान, अस्त्रचिकित्साविज्ञान आदि अनेक वैज्ञानिक रहस्योंका वर्णन है। आर्य्यगणोंके सब शास्त्र अभ्रान्त वैज्ञानिकभित्तिपर स्थित हैं। आजकल की पश्चिमीय उन्नत जातियोंकी जो पदार्थ विद्याएँ हैं वे सब क्रमशः परीक्षा द्वारा निर्णीत हुई हैं। अर्थात् साधारण मनुष्य बुद्धिके प्रयोग द्वारा क्रमशः

परीक्षा करते हुए वे विद्याएँ प्रकट हुई हैं। परन्तु प्राचीनकालमें पदार्थ विद्याके (जिसको आजकलके विद्वान् साइन्स कहते हैं) सम्बन्धमें जो कुछ उन्नति हुई थी उसके प्रकाशक योगिराज महर्षिगण थे। इस कारण उस समयकी आवश्यकताके लिये उन्होंने जो कुछ अपनी योगयुक्त बुद्धिसे देखा था सो सब अभ्रान्त ही देखा था। उस समयकी पदार्थ विद्या दार्शनिक सिद्धान्तोंसे भी सिद्ध थी। उदाहरणस्थल पर समझ सक्ते हैं कि जिस प्रकार सृष्टिके स्वाभाविक सप्तभेद दर्शनसिद्ध हैं। यथा–सप्तउच्चलोक, सप्तअधोलोक, सप्तव्याहृति, सप्तरङ्ग, सप्तस्वर, सप्तज्ञानभूमि इत्यादि; उसी प्रकार आयुर्वेदके अनुसार शरीरमें भी सप्त धातु माने गये हैं। द्वितीयतः जिसप्रकार सृष्टि त्रिगुणात्मक होनेके कारण सृष्टिके सब विभाग त्रिगुणात्मक हैं, यथा–त्रिविध ज्ञान, त्रिविधकर्म्म, त्रिविधभाव, त्रिविधअधिकार इत्यादि; उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्रने वात, पित्त, कफ इन तीनों पर शारीरिक विज्ञान स्थित किया है। अस्तु आयुर्वेद अभ्रान्त सिद्धान्तयुक्त है और आयुर्वेदोक्त औषधियां भारतकी प्रकृतिके अनुकूल हैं

इस कारण आर्यजातिके लिये आयुर्वेदचिकित्सा सबसे अधिक हितकर है। प्राचीनकालमें महर्षियोंने इस शास्त्रके अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन किया था परन्तु उनका दशमांश भी इस समय उपलब्ध नहीं होता है। हां यह शास्त्र कुछ प्रत्यक्षफलप्रद है, इस कारण और उपवेदोंसे इसके अधिक ग्रन्थ मिलते हैं। उद्यमशील पाश्चात्य जातियोंने आर्यजाति की इस लोकहितकरी विद्याको प्राचीन ग्रीकजाति के द्वारा प्राप्त किया था और तत्पश्चात् उन्होंने अस्त्रचिकित्सा और रसायनचिकित्सामें बहुत कुछ उन्नति की है। भारतवर्षमें आयुर्वेदविद्याका पुनः प्रचार होते समय उक्त पाश्चात्य जातिके आविष्कारोंका ग्रहण करना अवश्य उचित है।

धनुर्वेदके ग्रन्थोंमें मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान, मन्त्रविज्ञान, लक्ष्यसिद्धि, शास्त्रविज्ञान, युद्ध-विज्ञान आदि अनेक विषयोंका वर्णन था। जिस प्रकार आयुर्वेदशास्त्र शारीरिक स्वास्थ्य और बलदायक है और शरीर स्वस्थ होनेसे मुक्तिपद-प्राप्ति तकका सहायक होता है, उसी प्रकार धनु-र्वेदशास्त्र स्वधर्म्मरक्षा, जातिगत जीवनरक्षा, शान्तिरक्षा, स्वदेशरक्षा आदिका प्रधान सहायक

है और आधिभौतिक मुक्ति अर्थात् जातिगत स्वाधीनतारूपी मुक्ति प्राप्त करनेका तो यह शास्त्र एकमात्र अवलम्बन है। मनुष्यके लिये महर्षियोंने केवल दो प्रकारकी विहितमृत्यु लिखी है। यथा—योग द्वारा उत्तम मृत्यु और धर्म्मयुद्धमें कीर्तिकर मृत्यु। दोनों मृत्यु ही मुक्तिदायक हैं *। इन दोनोंके अतिरिक्त खट्वा पर लेटे हुए मृत्यु होना आर्य्यजनोचित नहीं है। योगमृत्यु और युद्धमृत्यु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यहां तक कि नारियोंके लिये भी समानफलप्रद है, इसमें सन्देह नहीं। युद्धविद्या भी केवल धर्म्मलक्ष्यसे ही लक्षित है, अधर्म्मयुद्ध सर्वथा निन्दनीय और अहितकर है। इस शास्त्रके अनेक ग्रन्थ प्राचीनकालमें प्रचलित थे, परन्तु इस समय सम्पूर्ण ग्रन्थ एक भी नहीं मिलता। यद्यपि इस समय देशकाल के अनुसार पाश्चात्य जातियोंने अनेक प्रकारके युद्धपोत और जलयान आदिका आविष्कार किया है, यद्यपि आजकलकी कलाकुशल पाश्चात्य जाति-

---

* द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥
श्रीयोगियाज्ञवल्क्यः ।

योंने विभिन्न प्रकारके शतघ्नी और नालास्त्र आदि का प्रणयन किया है और अब विमान आदिके प्रणयनकी शैली भी आविष्कृत होनेवाली है परन्तु जितने लौकिक अथवा दिव्य अस्त्र शस्त्र प्राचीनकालमें प्रचलित थे, जिस प्रकार विमान-प्रणयन करनेकी शैली प्रकट थी, जिस प्रकार व्यूहरचनाप्रणाली प्राचीन आर्य्यगणको विदित थी वैसी उन्नति इस समय होना कठिन है। आर्य्य-जातिमें युद्धविद्याकी कुछ विलक्षणता थी। वीरता की पराकाष्ठा, सरलनीतिकी पूजा और सब दशा में धर्मका प्राधान्य आर्य्ययुद्धविद्या द्वारा अनु-मोदित था। श्रीरामचन्द्र, भीष्म, अर्जुन आदिके समयकी तो बात ही क्या है अभी दो शताब्दी पूर्व मेवाड़ाधिपतिकुलोद्भव वीराग्रगण्योंने जो धर्म्म, धैर्य्य, त्याग, शौर्य्य आदि गुणावलीका परिचय दिया है उसका उदाहरण जगत्‌में नहीं मिलता। श्रीमहाभारत आदि ग्रन्थोंमें तो ऐसे उदाहरण बहुत मिलते हैं परन्तु इस समयमें भी उक्त राजकुलमें ऐसे अनेक धार्म्मिक योद्धा हुए हैं जो दिनमें धर्म्मयुद्ध करते और रात्रिमें धर्म्मयुद्ध का अवसान होने पर परस्परकी सेवा और चिकि-

रक्षा उनके शिविरमें जाकर करते थे। धनुर्वेदके लुप्त होजानेसे क्षात्रतेजका नाश होगया है और ब्रह्म-तेज भी सहायहीन होकर मलिन होगया है।

धनुर्वेदके ग्रन्थोंका जिस प्रकार चिन्हमात्र भी नहीं मिलता, गान्धर्व वेदकी वैसी दशा नहीं है। गान्धर्व वेदके कई लौकिक ग्रन्थ मिलते हैं और दो चार आर्ष ग्रन्थ भी छिन्न विच्छिन्न दशामें मिलते हैं। जिस प्रकार आयुर्वेदसे शरीरका सम्बन्ध है उसी प्रकार मनके साथ गान्धर्व वेदका सम्बन्ध है। सङ्गीतकी सहायतासे मन स्वस्थ और बल-शाली होता है। श्रीभगवान्‌ने कहा है कि मैं वेदोंमें सामवेद हूं *। ऐसा कहकर जो सामवेदकी प्रधानता कही है सो गान्धर्व वेदकी सहायताके कारण है। सामवेदकी नाईं लोकमोहन और वेद नहीं है। इसी कारण इसका और वेदोंसे सहस्र-गुण विस्तार हुआ था। उपासनाकाण्डसम्बन्धी शास्त्रोंने सर्वोपरि सङ्गीतकी महिमाका कीर्त्तन किया है †। प्राचीनकालमें गान्धर्व वेद प्रधा-

* वेदानां सामवेदोऽस्मि। इति गीतोपनिषद्।

† पूजाकोटिगुणं स्तोत्रं, स्तोत्रात्कोटिगुणो जपः।
जपात्कोटिगुणं गानं गानात् परतरं न हि॥

नतः दो भागोंमें विभक्त था। यथा—देशीविद्या और मार्गीविद्या। देशीविद्या लोकरञ्जनकर और मार्गीविद्या वेदगानोपयोगी है। इनमेंसे आधा शास्त्र एकबार ही लुप्त हो गया है, मार्गीविद्या का चिन्ह मात्र भी पृथिवी पर नहीं है। इस समय जो साम गानेकी शैली है वह यथार्थ नहीं है वरन् इस प्रकारकी शैलीसे सामकी असाधारण महिमा में बट्टा लगता है। प्राचीनकालमें सोलह सहस्र राग रागिणी और ३२६ ताल व्यवहृत होते थे, अब पचास शुद्ध राग रागिणी और दश ताल भी व्यवहार करने योग्य नहीं मिलते। प्राचीनकालमें लोक-रञ्जनकरी देशीविद्या त्रयीविद्या भी कहाती थी, क्योंकि देशी विद्याके तीन विभाग हैं। यथा—गीत, वाद्य और नृत्य। प्राचीन नृत्यविद्याका शुष्क कङ्काल आजकलके कत्थकोंका नृत्य है। और ग्रन्थोंके विषयमें यही कहा जा सक्ता है कि आर्ष ग्रन्थ सम्पूर्ण एक भी नहीं मिलते। उपर्युक्त वर्णनसे अनुमान किया जा सक्ता है कि वर्तमानमें सङ्गीत शास्त्रकी कैसी अवनत दशा है। शब्दमय सृष्टिका निर्णायक सङ्गीतशास्त्र है। जैसे मूलप्रकृतिसे कार्यरूपी यह भौतिकसृष्टि उत्पन्न हुई है उसी प्रकार से प्रथम सप्तस्वर और तत्पश्चात् सप्तभावमय सृष्टि

का आविर्भाव होना सङ्गीताचार्य्यगण स्वीकार करते हैं । प्रणवके साथ ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध है, इस कारण सङ्गीतकी सहायतासे अन्तःकरणकी उन्नति और ईश्वरका साक्षात्कार होना गान्धर्व-वेदविज्ञान सिद्ध करता है । इस समय जो कुछ स्वल्परूपसे यह शास्त्र उपलब्ध होता है उसकी विशेष उन्नति होनेसे आर्य्यजातिकी मानसिक उन्नति में विशेष सहायता होगी इसमें सन्देह नहीं है । इस समय आर्य्यजातिकी जातीय अवनतिके साथ ही इस विद्याकी बहुत ही अवनति होगई है । प्रायः अन्यधर्मावलम्बियोंके हाथ इसका क्रियासिद्धांश चला गया है और शोकका विषय यह है कि विवाह आदि उत्सवोंमें और यहांतक कि सेनादलके रण-वाद्यमें स्वदेशीय गीतके स्थानमें विदेशीय वाद्यादिक व्यवहृत होते हैं, इसका अवश्य संस्कार होकर जातीय सङ्गीतकी पुनरुन्नति होनी चाहिये ।

स्थापत्यवेदमें नानाप्रकारके शिल्प, कला, कारुकार्य्य और पदार्थविद्या (साइन्स) का वर्णन था । शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन है कि यह वेद बहुत बड़ा था और चौंसठ ६४ विभागोंमें विभक्त था । जिस प्रकार अन्तर्जगत्सम्बन्धीय उन्नतिका लक्षण दार्शनिक उन्नतिसे परिज्ञात होता है उसी प्रकार

लौकिक वृद्धि अर्थात् मनुष्यकी बाह्य उन्नति उस मनुष्यजातिके शिल्प, कला, कारुकार्य्य और पदार्थविद्यासम्बन्धीय उन्नतिसे समझी जाती है। प्राचीन कालमें आर्य्यजातिके द्वारा अट्टालिकानिर्माण, सेतुनिर्माण, मन्दिरादिनिर्माण, प्रस्तरसम्बन्धीय कारुकार्य्य आदिकी कितनी उन्नति हुई थी सो आजकल जो ध्वंसावशेष मिलते हैं उनके देखनेसे भी कुछ जाना जा सक्ता है। बहुत से चिन्ह अभी ऐसे विद्यमान हैं जिनको देखकर पाश्चात्य प्रसिद्ध शिल्पीगण चकित होकर मनुष्यशक्तिसे उनका होना असम्भव समझते हैं। प्राचीन आर्य्योंमें पशुविद्या, प्रस्तरविद्या, लौहादिक कठिन धातु और सुवर्णादि कोमलधातुकी उपयोगी विद्याएं, वनस्पतिविज्ञान, नानाप्रकारके यान निर्माणकी विद्या, भूमिके अन्तर्गत पदार्थ और जलनिराकरणकी विद्या, कृषिविद्या, नाना वस्त्र आभूषण व रत्नोंके सम्बन्धकी शिल्पविद्या, आकाशतत्त्वविद्या, वायुतत्त्वविद्या, अग्नितत्त्वविद्या आदि अनेकों लोकोपकारी शिल्प व पदार्थविद्याओंका विकास भलीभांति हुआ था, इसका प्रमाण वर्तमान ध्वंसावशेष चिह्न और प्राचीन

पुस्तकोंसे भली भांति परिज्ञात होता है। भारतकी शिल्पोन्नति ही इसका कारण है कि परमोद्यमी पाश्चात्य जातियोंने जलपथका आविष्कार किया था।

चारों उपवेद अब लुप्तप्राय होगये हैं, संस्कृत और देशभाषा द्वारा इन चारों उपवेदोंके भाण्डार को यथासम्भव पूर्ण करनेमें धार्म्मिक विद्वानोंको परिश्रम करना चाहिये। इस समय पृथिवी भर की अन्यजातियोंमें जहां उपयोगी विषय मिलें अपनी भाषाके ग्रन्थोंमें उनका संग्रह करना चाहिये।

——:o:——

पञ्चम अध्याय।

स्मृतिशास्त्र।

त्रिगुणभेदके अनुसार मनुष्यकी बुद्धि तीन प्रकारकी होती है। यथा-सात्त्विक, राजसिक, और तामसिक *। यद्यपि स्मृतिशास्त्रोंमें

* प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्य्याकार्य्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
यया धर्म्ममधर्म्मं च कार्य्यञ्चाकार्य्यमेव च।
न यथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥

तीनों प्रकारके मनुष्योंके लिये ही धर्म्मोपदेश वर्णित है परन्तु प्रधानतः राजसिकबुद्धि और तामसिकबुद्धिके मनुष्योंको सहायता देनेके अर्थ ही स्मृतिशास्त्रोंका आविर्भाव हुआ है। सात्त्विक बुद्धिको प्रज्ञा अथवा ऋतम्भरा* कहते हैं और राजसिक, तामसिकशक्तिसम्पन्न बुद्धि ही प्रायः बुद्धिशब्दवाच्य होती है। त्रिविध बुद्धिके अनुसार धर्म्मानुशासन भी तीन प्रकारके होते हैं। यथा-योगानुशासन, शब्दानुशासन और राजानुशासन। संसारमें तमःप्रधान मनुष्योंके लिये राजानुशासन, रजःप्रधान मनुष्योंके लिये शब्दानुशासन और पूर्णप्रज्ञ सत्त्वप्रधान मनुष्योंके लिये योगानुशासन है। स्मृतियोंमें राजानुशासन और शब्दानुशासन दोनोंका ही समावेश है। श्रुति अर्थात् वेदके द्रष्टा महर्षियोंकी स्मृतिकी सहायता से जो धर्म्मशास्त्र प्रणीत हुए हैं वे ही स्मृति कहाते हैं। श्रुतिरूपी वेदमन्त्रोंमें मन्त्रद्रष्टा महर्षियोंने कुछ न्यूनाधिक्य नहीं किया है अर्थात्

अधर्म्मं धर्म्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥
इति गीतोपनिषद् ।

* ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा । इति योगदर्शने ।

यमापस्तम्बसंवर्त्ता कात्यायनबृहस्पती ।
पराशरव्यासशङ्खलिखितादक्षगौतमौ ॥
शातातपो वशिष्ठश्च धर्म्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥ ”

ये प्रधान स्मृतियां हैं। तदतिरिक्त गोभिल, जमदग्नि, विश्वामित्र, प्रजापति, वृद्धशातातप, पैठीनसि, आश्वलायन, पितामह, बौद्धायन भरद्वाज, छागलेय, जावालि, च्यवन, मरीचि, कश्यप आदिकी उपस्मृतियां भी हैं। सब स्मृतियोंमें धर्म्मलक्ष्य एक ही होने पर भी किसी स्मृतिकारने किसी विषयका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, किसीने किसी विषयका स्वल्परूपसे वर्णन किया है। सब स्मृतियोंका अनुशासन एक प्रकारका न होनेका कारण यह है कि सृष्टिविचित्रताके कारण वैदिक सिद्धान्तोंकी स्मृति जिस आर्ष अन्तःकरणमें जिस भावसे प्रकाशित हुई है उन आचार्य्य महर्षियोंके द्वारा वैसे ही भाववाले स्मृतिशास्त्र प्रकाशित हुए हैं। इस कारण सब स्मृतियोंका अध्ययन करना युक्तियुक्त है।

स्मृतियोंमें कहीं कहीं कुछ मतविरोध भी प्रतीत हुआ करता है, जिससे जिज्ञासुओंके हृदयमें प्रायः शङ्का उत्पन्न होना सम्भव है। परन्तु

पूज्यपाद महर्षियोंने अपने अपने संहिताग्रन्थोंमें भली भांति प्रकाशित कर दिया है कि ऐसे मतों की अनैक्यताका कारण क्या है ? जहां पदार्थकी गुरुता और विज्ञानकी सूक्ष्मता हो वहां मतविरोध होना सम्भव है परन्तु जहां पदार्थकी सूक्ष्मता और विज्ञानकी प्रबलता हो वहां आचार्य्योंके मतमें विरोध होना सम्भव ही नहीं है । उदाहरण स्थल पर समझ सक्ते हैं कि कन्याके पाणिग्रहणकाल के विषयमें तो किसी महर्षिके मतमें विरोध न होगा अर्थात् कन्यामें रजोधर्म्मके प्रारम्भसे पूर्व विवाह कर देनेकी आज्ञा सब पूज्यपाद ही देते हैं परन्तु जब कन्याकी अवस्थाका विचार किया जायगा तो अवश्य मतविरोध होना सम्भव है क्योंकि पूर्वविचारमें विज्ञानकी दृढ़ता और दूसरे विचारमें विज्ञानकी सूक्ष्मता है । इसी विषयको दूसरे उदाहरणसे भी समझ सक्ते हैं कि सामुद्रिक लक्षणोंसे मनुष्यके भविष्यत्का विचार करते समय भविष्यद्वक्तागणमें मतभेद होसक्ता है परन्तु शुद्ध गणितकी सहायतासे ज्योतिष शास्त्र के फलद्वारा भविष्यत्का निर्णय करते समय प्रायः मतभेद होनेकी सम्भावना नहीं रहती । इस

गई हैं। जहांतक होसके स्मृतिशास्त्रके ग्रन्थोंका अनुसन्धान करना चाहिये और उनसे छोटे बड़े संग्रहग्रन्थ बनने चाहिये। पाठशालाकी निम्नश्रेणी से लेकर उच्चश्रेणी पर्यन्त इस शास्त्रका अध्ययन कराना हितकारी होगा। इसी प्रकारसे इस सर्व-जीवहितकारी शास्त्रका जितना प्रचार होगा उतनी ही धर्म्मोन्नति हो सकेगी।

षष्ठ अध्याय।

पुराण।

पुराण और इतिहास दोनों एक जातीय ग्रन्थ हैं, केवल जिन ग्रन्थोंमें प्राचीन आख्यायिकाएं अधिक हों वे इतिहास कहाते हैं यथा–रामायण, और जिनमें सृष्टिक्रियाका विवरण अधिक हो वे ग्रन्थ पुराण कहाते हैं। यथा–शिव, पद्म आदि। "इतिहासं पुराणम्" आदि वाक्योंसे हमारे पूज्य-पाद आर्य्य ऋषियोंने जो जो शास्त्र प्रकाश किये हैं उनका तात्पर्य्य यही है कि कथारूपमें वेदार्थका प्रकाश करना। अति प्राचीनकालसे पुराण शास्त्र

भारतवासियोंको अति प्रिय हैं; अब भी यही देखनेमें आता है कि भारतवर्षके सब प्रदेशोंमें सब ग्रन्थोंसे पुराणग्रन्थोंका प्रचार अधिक है। इस प्रकारके धर्म्मग्रन्थोंका आदर केवल भारतवर्षमें ही नहीं किन्तु विचारनेसे यही प्रतिपन्न होगा कि पृथ्वीके सकलधर्म्मावलम्बियोंमें ही इस रीतिके ग्रन्थ प्रचलित हैं और साधारण लोगोंमें इसी प्रकारके ग्रन्थोंका अधिक सम्मान देखनेमें आता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि धर्म्मके गम्भीर ग्रन्थोंके विचार करनेमें साधारण लोगों की रुचि उतनी नहीं होती जितनी सरल इतिहास-पूर्ण धर्म्मग्रन्थोंके पाठ करनेमें होती है। देखिये ईसाई धर्म्ममें यदिच यीशुमसीहके समयके कोई इस प्रकारके पुराण ग्रन्थ नहीं देखनेमें आते हैं परन्तु उनके देहत्यागके पीछे उनके शिष्यों द्वारा बहुतसे इस रीतिके ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे और अभी तक यीशुधर्म्मावलम्बियोंमें उनका प्रचार भली भांति है। इसी प्रकार यदिच मुहम्मदीधर्म्मा-वलम्बियोंके लिये कुरान ही प्रधान ग्रन्थ है तथापि उनके पीछे उनके भक्तगणके ऐतिहासिक ग्रन्थ भी बहुत आदरके साथ उक्तधर्म्मावलम्बियोंमें प्रचलित हैं और बौद्ध-जैनधर्म्मावलम्बियोंका

तो कहना ही क्या है क्योंकि इनके धर्म्मग्रन्थोंमें अधिकांश ग्रन्थ हमारे पुराणग्रन्थोंके अनुकरण ही पर बनाये गये हैं और उनका आदर इन सम्प्रदायोंके और २ ग्रन्थोंसे अधिक है।

विद्याभिमानी महाशयोंमें कोई कोई ऐसा भी सन्देह करते हैं कि पुराण ग्रन्थ आधुनिक हैं, ऐसे ग्रन्थोंका प्रचार बहुत प्राचीन अर्थात् वैदिक कालमें न था। यह संशय दूर करनेके अर्थ उपनिषद्आदि ग्रन्थोंमें ही बहुत प्रमाण मिल सक्ते हैं। शतपथ ब्राह्मणमें है। "ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाऽङ्गिरसौ इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि" अब देखिये कि वेदमें भी प्रमाण मिलता है, वेदके एक और स्थलमें देखिये। छान्दोग्यमें है कि "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमम्" पुनः मनुसंहितामें देखिये कि, "आख्यानानीतिहासश्च पुराणान्यखिलानि च। स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्रे धर्म्मशास्त्राणि चैव हि।" इनके पाठ करनेसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि पुराणोंका प्रचार सनातनकालसे ही है और वेदने भी इनका सम्मान करनेकी आज्ञा दी है।

शास्त्रकारोंने पुराणके लक्षण इस प्रकार लिखे हैं। यथा-"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंश्यानां वंशचरितं पुराणं पञ्चलक्षणम्।" अर्थात् महाभूतोंकी सृष्टि, समस्त चराचरकी सृष्टि, वंशावली, मन्वन्तरवर्णन और प्रधान प्रधान वंशों के व्यक्तियोंका क्रमशः विवरण, पुराणोंके ये पांच लक्षण हैं। पुनः ब्रह्मवैवर्तपुराणमें महापुराणके लक्षण लिखे हैं। यथा—"सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्च स्थितिस्तेषाञ्च पालनम्। कर्म्मणां वासना वार्ता मनूनां तु क्रमेण च॥ वर्णनं प्रलयानाञ्च मोक्षस्य च निरूपणम्। उत्कीर्तनं हरेरेव देवानाञ्च पृथक पृथक्॥" अर्थात् मूलसृष्टि, विशेष विस्तृत-सृष्टि, जगत्की स्थिति, जगत्का पालन, कर्म्म-वासना, मनुओंका प्रकाशक्रम, प्रलय, मोक्ष, हरिकीर्तन, देवताओंके पृथक् पृथक् गुणवर्णन, ये दश लक्षण महापुराणके हैं। लक्षणोंको देखनेसे ही स्पष्ट सिद्ध होता है कि किन किन आवश्यकीय उद्देश्योंके साधनके लिये हमारे त्रिकालदर्शी ऋषि-योंने पुराण प्रकाशित किये थे। चिरजीवी पुराण शास्त्रने चिरकालसे ही हमारे सनातनधर्म्मकी पूर्ण रक्षा की है और आजदिन इस आपत्कालमें

भी सब प्रकारके अधिकारियोंका पितृवत् पालन कर रहा है ।

पुराण ग्रन्थोंमें प्रायः आख्यायिकापूर्ण पाठ और वे भी विभिन्न २ स्थानोंमें विभिन्न २ प्रकारके देखने से लोगोंको यह सन्देह होता है कि पुराण प्रामाणिक धर्म्मग्रन्थ नहीं हैं । वे केवल काव्यकी रीति पर रचे गये हैं । यदि ऐसा नहीं होता तो ऐसे असंलग्न पाठ क्यों दिखाई देते ? पुराणोंका यथार्थ आशय न जाननेसे ही मनुष्य ऐसे मिथ्या सन्देह किया करते हैं, क्योंकि हमारे त्रिकालदर्शी आचार्य्योंने इस विषयको स्पष्ट रीति पर खोल दिया है कि पुराणोंमें तीन प्रकारकी भाषाएँ लिखी जाती हैं । यथा-प्रथम समाधि भाषा, द्वितीय परकीय भाषा, तृतीय लौकिक भाषा * । यद्यपि

* समाधिभाषा प्रथमा लौकिकीति तथाऽपरा ।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा स्मृता ॥
गुप्तमेतद्रहस्यं वै भाषातत्त्वं महर्षयः ।
सम्यग्ज्ञात्वा प्रवर्त्तध्वं शास्त्रपाठेषु संयताः ॥
समाधिभाषा जीवानां योगवुद्धिप्रदायिका ।
नयते नितरामेतान् परमामृतमव्ययम् ॥
सुरम्या लौकिकी भाषा लोकवुद्धिप्रसाधिका ।
परमानन्दभोगान्सा प्रदत्ते नात्र संशयः ॥

पुराण शास्त्रकी पुष्टिके लिये यह कहा गया है कि पुराणकी नाईं गाथापूर्ण शास्त्रीय ग्रन्थोंका विस्तार मनुष्यजातिमें स्वभावसिद्ध है और उसके लिये अन्य धर्मावलम्बियोंका उदाहरण भी दिया गया है, परन्तु इससे कोई यह न समझे कि सनातनधर्म्मोक्त पुराणग्रन्थ कोई साधारण गाथाग्रन्थ हैं । ये पुराणशास्त्र वेदप्रतिपाद्य धर्म्मग्रन्थ हैं । पुराणशास्त्रोंमें कहीं तो वेदके अति गम्भीर विषयोंका समाधिभाषाद्वारा यथावत् वर्णन किया गया है, कहीं लोकरीतिके अनुसार लौकिकभावकी सहायतासे मनुष्योंको समझानेके लिये लौकिक भाषा द्वारा प्रकट किया गया है और कहीं धर्म्मके रहस्योंको दृढ़ करानेके अर्थ गाथारूपसे परकीयभाषाद्वारा प्रकट किया गया है । वेदोंमें भी इसी ढंगकी वर्णनशैली है । ये तीनों प्रकारके भावविन्यास स्वभावसिद्ध हैं । सब अधिकारी एकसे नहीं होते, न सब समय एक प्रकारका भाव अच्छा लगता है, इसी कारण

परकीया तथा भाषा शास्त्रोक्ता पापनाशिनी ।
जीवान्सा पुण्यलोकानां कुरुते ह्यधिकारिणः ॥
इति भरद्वाजपुराणसंहितायाम् ॥

पुराणोंमें इस प्रकारका भाषावैचित्र्य है । समाधि-भाषा, लौकिकभाषा और परकीयभाषा; इन तीनोंका यथार्थ रहस्य विना समझे पुराण शास्त्रों-का अध्ययन अध्यापन और उपदेश करना पूर्ण फलजनक नहीं होता और न पूर्णानन्दप्रद ही होता है । पुराण शास्त्रमें सर्वजीवहितकारी भाव रक्खे गये हैं । अपिच यदि वैसे वर्णनोंसे समाधि-गम्य विषयोंमें कुछ हानि पहुंचे तो इसके लिये पुराणरचयिता महर्षिने श्रीभगवान्‌से क्षमा भी मांगी है * ।

महापुराण अष्टादश हैं † और उसी प्रकार

---

* रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितम्
स्तुत्याऽनिर्वचनीयताऽखिलगुरोर्दूरीकृता यन्मया ॥
व्यापित्वञ्च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना
क्षन्तव्यं जगदीश ! तद्विकलतादोषत्रयं मत्कृतम् ॥

श्रीवेदव्यासः ।

† अष्टादशपुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते । ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च शैवं भागवतं तथा ॥ तथान्यन्नारदीयञ्च मार्कण्डेयञ्च सप्तमम् । आग्नेयमष्टमञ्चैव भविष्यं नवमं स्मृतम् ॥ दशमम्ब्रह्म-वैवर्त्तं लैङ्गमेकादशं स्मृतम् । वाराहं द्वादशञ्चैव स्कान्दञ्चैव त्रयोदशम् । चतुर्दशं वामनञ्च कौर्मं पञ्चदशं स्मृतम् । मात्स्यं च गारुडञ्चैव ब्रह्माण्डञ्च ततः परम् ॥ इति भगवान् वेदव्यासः

उपपुराण भी अष्टादश हैं* इनमेंसे महापुराण और उपपुराण होनेके विषयमें किसी किसी पुराणके नाममें साम्प्रदायिक मतभेद है। यथा—भागवत पुराण। शैव और देवीके उपासकगण देवीभागवतको महापुराण कहते हैं और विष्णुके उपासकगण इसके विरुद्ध विष्णुभागवतको महापुराण कहते हैं। ऊपर लिखित छत्तीस पुराणोंके अतिरिक्त और भी बहुत पुराणोंके नाम मिलते हैं वे सब औपपुराण कहाते हैं। औपपुराणोंकी भी संख्या अष्टादश है। इस प्रकारसे पुराण शास्त्र; महापुराण, उपपुराण, औपपुराण, इतिहास और पुराण संहिता इन ५ भागोंमें विभक्त हैं। पुराणग्रन्थ भी बहुत लुप्त होगये हैं और एक विशेष असुविधा इन शास्त्रोंमें यह हुई है कि इनमें कई एक कारणोंसे स्थान स्थान पर प्रक्षिप्त अंश बढ़ा दिये गये हैं जो

---

* आद्यंसनत्कुमारोक्तं नारसिंहमतः परम्। तृतीयं वायवीयञ्च कुमारेणानुभाषितम्॥ चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम्। दुर्वाससोक्तमाश्चर्य्यं नारदीयमतःपरम्॥ नन्दिकेश्वरयुग्मञ्च तथैवोशनसेरितम्। कापिलंवारुणं साम्बं कालिकाह्वयमेवच॥ माहेश्वरं तथा देवि! दैवं सर्वार्थसाधकम्। पराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम्॥ इति भगवान् वेदव्यासः।

अवस्थाभेदसे हानिकारक भी हैं। पुराणोंके अतिरिक्त जो इतिहासग्रन्थ हैं वे भी पुराणके ही अन्तर्गत हैं। यथा—श्रीमहाभारत और श्रीमद्रामायण। हरिवंश महाभारतके अन्तर्गत माना गया है। पुराण और इतिहासशास्त्रोंको किसी किसी आचार्य्योंने इस प्रकारसे भी विभक्त किया है। यथा—कर्म्मविज्ञानप्रधान श्रीमहाभारत, ज्ञानप्रधान श्रीरामायण और पञ्चोपासनाप्रधान अन्य पुराण। वास्तवमें अन्यपुराणोंमें प्रायः पञ्चोपासना की पुष्टि की गई है। जगज्जन्मके आदिकारण मान कर ही कहीं श्रीविष्णु, कहीं श्रीसूर्य्य, कहीं श्रीभगवती, कहीं श्रीगणपति, कहीं श्रीसदाशिवकी उपासनाका समर्थन किया गया है।

वेदोंमें जिस प्रकार कर्म, उपासना, ज्ञान इन तीन काण्डोंका वर्णन है वैसे ही पुराण व इतिहासोंमें भी इन्हीं तीनों काण्डोंकी पुष्टि की गई है और वेदों में जिस प्रकार अध्यात्मभाव, अधिदैवभाव, अधिभूतभाव इन तीनोंका सब स्थानोंमें प्रकाश है उसी प्रकार पुराण व इतिहासमें प्रायः इन तीनों रहस्योंका वर्णन पाया जाता है। अस्तु, जिस प्रकार भाषात्रयविज्ञान विना समझे इतिहासपुराण

समझमें नहीं आ सक्ते उसी प्रकार इन वैदिक तीनों भावोंके रहस्योंको विना समझे पुराणशास्त्र यथावत् समझमें नहीं आसक्ते । कोई कोई अज्ञ पुरुष इतिहास पुराण शास्त्रोंको इतिवृत्तग्रन्थ समझने लगते हैं और पुराणोंमेंसे लौकिक इतिवृत्त-तत्त्व निकालनेका यत्न करने लगते हैं, परन्तु यह उनकी बड़ी भूल है । इतिहासपुराणग्रन्थ सर्वथा धर्म्मग्रन्थ हैं यदि उनमें ऐतिह्यासिकतत्त्व अथवा लौकिकतत्त्व निकालनेका यत्न किया जायगा तो पुराणशास्त्रका अपमान होगा । उदाहरणस्थल पर श्रीविष्णुभागवतकी रासलीला, और देवी भागवतकी रासलीला तथा विष्णुभागवतका श्रीशुकदेव चरित्र और देवीभागतका श्रीशुकदेवचरित्र मिलाने पर बुद्धिमान् व्यक्तिमात्र समझ सकेंगे कि इतिहास पुराणोंमें कदापि इतिवृत्तका सम्बन्ध न दिखाना चाहिये । इन शास्त्रोंमें विज्ञान रूपक और गाथा आदि जा कुछ है सो वैदिक धर्म्मरहस्यके प्रकट करनेके लिये ही है और जो चरित्रवर्णन है सो प्रजामें धार्म्मिकभावकी वृद्धि करनेके लिये है। यथा सत्यधर्म्मप्रकाश करनेके अर्थ हरिश्चन्द्रचरित्र और पातिव्रत्यमहिमा वर्णन करनेके लिये सावित्री सत्यवान्का चरित्र वर्णित है ।

शक्तिमें अन्य ग्रहोंके प्रभाव द्वारा तमका आविर्भाव और अधोगामिनी शक्तिका उदय विचार कर पुराणशास्त्रोंने लौकिक शैलीके अनुसार इस प्रकारके वर्णन किये हैं। इस प्रकारकी वर्णनशैली को लौकिक-भाषा कहते हैं। कहीं कहीं पुराणोंकी वर्णनविचित्रतासे भी सन्देह हो सक्ता है। उदाहरणस्थल पर समझ सक्ते हैं कि पुराणशास्त्रोंने पृथ्वीका परिमाण पचास कोटि योजन लिखा है परन्तु अर्वाचीन पाश्चात्य पण्डितोंने प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया है कि पृथ्वीका परिमाण केवल आठ सहस्र मील अर्थात् एक सहस्र योजन है। पूर्वकथित लौकिक भाषा और परकीय भाषाके दृष्टान्तोंसे यह सिद्ध होता है कि उक्त दोनों भाषासम्बन्धी वर्णनोंमें पुराणोंका परस्पर मतभेद होसक्ता है। परन्तु समाधिभाषा सब पुराणोंकी एक सी ही होती है अपिच लौकिक भाषामें यह आकाश-पातालकासा भेद देखकर अज्ञ लोग पुराणशास्त्रों पर नाना प्रकारके कटाक्ष करने लगते हैं। सूक्ष्मविचारद्वारा यह समाधान होगा कि किसी गोल पदार्थके घनफल निकालनेकी रीति यदि किसी गणितके अध्यापकसे समझ कर तत्पश्चात् इस पुराणोक्तवर्णनके सन्देह दूर करनेमें

प्रवृत्ति की जायगी तो सुगमतासे सन्देह दूर हो जायगा। वास्तवमें पुराणशास्त्र पृथिवी ग्रहके गोलक के घनफलका परिमाण पचास कोटि योजन कहते हैं, दोनोंका विचारही सत्य है परन्तु केवल सम-दृष्टि न होनेसे समझमें नहीं आता। इसी प्रकारसे पुराणोंमें लोग वृथा सन्देह करते हैं। जिन जिन विषयोंके ज्ञानको पूर्वमें प्राप्त करके पुराणशास्त्रके पाठ करनेमें प्रवृत्त होना चाहिये उन २ दर्शन विज्ञान और पुराणतत्त्वसम्बन्धी शास्त्रोंका विना अनुशीलन किये लोग पौराणिक बनने लगते हैं, इसी कारण शास्त्रका यथार्थ ज्ञान नहीं होता और न वे दूसरोंका सन्देह दूर कर सक्ते हैं। पुराणशास्त्रोंकी सर्व-लोक-हितकारिता असाधारण है। जैसे तरलतरङ्गिणी, पतितपावनी श्रीगङ्गादेवी अचल हिमाचलके गुप्त प्रदेशोंसे निकल इस अपवित्र संसारको पवित्र करती हुई अपार महासागरमें जा मिलती हैं वैसे ही हमारे पुराण शास्त्र गम्भीर वेदाशयके निभृत स्थानसे निकल कर कर्मभूमिमें नानारूपसे बहते हुए सब प्रकारके धर्मपिपासुओं-को तृप्त कर ब्रह्मानन्दरूप अनन्त सागरमें ही जा मिलते हैं।

सप्तम अध्याय ।

तन्त्रशास्त्र ।

जिस प्रकार वेदोंका महान् विस्तार है उसी प्रकार तन्त्र शास्त्रोंका भी महान् विस्तार है। जिस प्रकार संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्रूप वेद-विभागके कई सहस्र ग्रन्थ इस कल्पमें प्रचलित हुए थे, उसी प्रकार तन्त्रशास्त्रके भी ग्रन्थ कई सहस्र थे, ऐसा प्रमाण मिलता है। जैसे वेदोंमें विष्णु-यागसदृश सात्त्विकयज्ञ, राजसूयसदृश राजसिक याग और श्येनयागसदृश तामसिक यागोंका वर्णन त्रिविध अधिकारियोंको तृप्त करनेके अर्थ पाया जाता है उसी प्रकार तन्त्रशास्त्रोंमें त्रिविध अधिकारियोंके तृप्त करने योग्य सात्त्विक, राजसिक और तामसिक ये उपासनात्रय और दिव्या-चार, पश्याचार और वीराचाररूप इन तीन आचारों का वर्णन पाया जाता है। तन्त्रशास्त्रोंकी विलक्षणता यह है कि उनमें कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन तीनों काण्डोंके विस्तृत वर्णन पाये जाते हैं। उनमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासना और सगुण वैष्णव, सौर, शाक्त, गाणपत्य और शिवोपा-सनारूप पञ्चोपासनाका विस्तृत विवरण पाया

जाता है और उनमें उपवेदचतुष्टय, षडङ्ग, सप्तदर्शन-विज्ञान, स्मृति और पुराण शास्त्र तकका वर्णन और रहस्य निभृत है। इसी कारण तंत्रशास्त्रोंका इतना अधिक विस्तार है। तन्त्रशास्त्र तीन श्रेणी के माने गये हैं। यथा—श्रीमहादेवकथित तन्त्र शास्त्र, श्रीमहादेवीकथित तंत्रशास्त्र और महर्षि-गण कथित तंत्रशास्त्र। वे ही आगम तंत्र, निगम तंत्र और आर्ष तन्त्र कहे जाते हैं। तन्त्रों की एक विशेष महिमा यह है कि कर्मकाण्डमें वैदिक और तान्त्रिक रूपसे दो ही भेद माने गये हैं। इस समय वैदिकक्रियाकलापकी बहुत कुछ न्यूनता हो जानेसे भारतवर्षके सब प्रान्तोंमें या तो तान्त्रिक कर्मकाण्डका प्रचार अधिक है या तन्त्रमिश्रित वैदिक कर्म्मकाण्डका अधिक प्रचार है। यहां तक कि नित्यकर्म्मरूपी सन्ध्याकी पद्धति में भी तान्त्रिक विधि प्रवेश कर गई है। अन्य शास्त्रों के सदृश तन्त्रशास्त्र भी वेदमूलक हैं। प्रथम तो तन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थोंका एकशतांश भी इस समय नहीं उपलब्ध होता, द्वितीयतः कलियुग तमः प्रधान होनेके कारण शुद्ध सात्त्विक तंत्र प्रायः लुप्त होगये हैं और तृतीयतः तान्त्रिकभाषा सरल, उसकी क्रियापद्धति सुगम और उसके

साधनोंमें प्रायः प्रवृत्तिदायक भाव रहनेसे तन्त्रों-के विषयमें अर्वाचीन लोग नाना प्रकारके सन्देह किया करते हैं, परन्तु वे सन्देह भ्रममूलक हैं।

तन्त्रशास्त्रके विरुद्धवादीगण बहुधा दो प्रकार का लाञ्छन लगाया करते हैं "प्रथम तो तंत्रोंमें इन्द्रजाल अथवा मारण, वशीकरण व योगिनी मातृकाआदि सिद्धियों का होना है और दूसरे तंत्रमें पञ्चमकार आदि भोगपदार्थों व क्रियाओंकी आज्ञा रहना आदि घृणित विषय हैं।" परन्तु सत्यानुसन्धानकारी एवं सार्वभौम-दृष्टिसम्पन्न जिज्ञासुगण यदि अपनी निरपेक्ष बुद्धि द्वारा अनुसन्धान करेंगे तो थोड़े ही विचारसे उनके चित्तकी ये शङ्काएं दूर होसक्ती हैं। भक्ति मार्गके प्रधान आचार्य्य भक्ताग्रगण्य महर्षि शाण्डि-ल्यजीने अपने सूत्रोंमें कहा है कि "सर्वानृते किमिति चेन्नैवं बुद्ध्यानन्त्यात्" सब छोड़ देने पर फिर सिद्धिकी क्या आवश्यकता हुआ करती है? आवश्यकता अवश्य है क्योंकि बुद्धि बहुत प्रकार की होती है। तात्पर्य्यार्थ यह है कि "अब यदि जिज्ञासुगणके हृदयमें यह शङ्का उठे कि जीव को तो सदा मुक्तिके उपायका ही चिन्तन करना उचित है, भक्ति ही उनके लिये श्रेय है, तो पुनः

ऐश्वर्य्योंका वर्णन क्यों किया जाता है? साधक ऐश्वर्य लेकर क्या करेंगे? इस प्रकारकी शङ्काएं दूर करनेके अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जीव अनन्त हैं; इस कारण जीवोंकी मति गतिका भी ठिकाना नहीं; सब ही जीवन्मुक्तिके अभि- लाषी थोड़े ही होते हैं। जो साधक ऐश्वर्यका भिखारी हो उसके अर्थ ऐश्वर्य्योंका होना भी अवश्य है। क्योंकि जब साधक अपनी कामनाके अनुसार सिद्धियोंको प्राप्त कर लेगा तब ही वह आगेको बढ़ सकेगा; वासना रहते जीव मुक्तिपद का अधिकारी होही नहीं सक्ता। इस कारण मध्य- वर्ती साधकोंके हितार्थ व प्रार्थनाकारियोंकी प्रार्थना पूर्ण करनेके लिये उन पर कृपापरवश आचा- र्योंने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धियोंका वर्णन किया है।" पूज्यपाद महर्षि शाण्डिल्यजीके विचार के सिद्धान्त द्वारा जिज्ञासुओंकी शङ्का दूर हो सक्ती है। इसी सिद्धान्त पर स्थित रह कर प्राचीन आचा- र्य्योंने प्रायः अपने साधनसम्बन्धी ग्रन्थों में नाना सिद्धि तथा सिद्धियोंकी प्राप्तिके कौश- लका वर्णन किया है। हठयोगके ग्रन्थसमूह, लययोगके ग्रन्थसमूह, मन्त्रयोगके ग्रन्थसमूह और उपासनाकाण्डके ग्रन्थसमूहमें प्रायः इन

सिद्धियोंका वर्णन पाया जाता है । विशेषतः सर्व साधनमार्गोंके आदिविज्ञानरूप "योगदर्शन" में इन सिद्धियोंका वर्णन बहुत ही विस्तृत रूपसे किया गया है । वैदिक धर्मसमाजमें जितने प्रकारके साधन सम्प्रदाय प्रकट हैं उन सबकी ही एकमात्र भित्ति योगिराज महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन है । जो कोई सम्प्रदाय ज्ञानोन्नति अथवा मुक्तिपदकी इच्छासे किसी प्रकारका साधन करता हो वह अवश्य इस अभ्रान्त और सार्वभौम विज्ञानके अनुकूल ही होगा । तान्त्रिक क्रियाओंके साथ योगमार्गका विशेष सम्बन्ध पाया जाता है । सिद्धियोंके विषयमें योगदर्शनमें केवल उच्चकक्षाकी सिद्धियोंका ही वर्णन है परन्तु तन्त्रशास्त्रोंमें उच्चसे उच्च अष्टसिद्धियोंके वर्णनसे लेकर क्षुद्रसे क्षुद्र मारण, वशीकरणादि षट्कर्मसिद्धि तकका वर्णन होनेसे क्रियाकी पूर्णताके विचारसे तंत्र-शास्त्रोंकी महिमा अधिक ही हो सक्ती है इसमें सन्देह नहीं है ।

तन्त्रशास्त्रके विरुद्ध पक्षवालोंकी दूसरी शङ्का यह हुआ करती है कि ऐसे धर्मोद्धारक शास्त्रोंमें पञ्चमकारादि भोगसम्बन्धी साधनकी व्यवस्था

अर्थों रक्खी गई है; मद्य, मांस, स्त्रीसेवा, भोजन, विलास आदिका वर्णन उपासनाविवरणके साथ रखना बहुत ही निन्दनीय सा प्रतीत होता है; परन्तु सार्वभौम विचारसे निरपेक्ष अनुसन्धान द्वारा ऐसी शङ्काओंका भी तुरत ही निराकरण हो सक्ता है। प्रथमतः इस संसारमें कोई भी वस्तु केवल असत्पदवाच्य नहीं हो सक्ती; केवल लक्ष्य सत् अथवा असत् होनेके अनुसार पदार्थ सत् अथवा असत् हुआ करता है। उदाहरणस्थल पर समझ सक्ते हैं कि एकमात्र मदिरापान ब्राह्मण वर्णके अर्थ महाअसत्पदार्थ है; परन्तु वही पान कठिन रोगशय्याशायी रोगीके अर्थ (चाहे वह किसी वर्णका हो) सत् अर्थात् धर्मकारी है। यदिच स्त्री-सेवाविचारसे परस्त्रीगमन महाअसत् कार्य्य है; परन्तु उसी प्रकार स्वकीया स्त्रीमें उचित समय पर न गमन करना भी असत्कार्य्य समझा गया है; स्त्रीसेवा यदिच परस्त्रीमें असत्कार्य्य है परन्तु वही स्त्रीसेवा निज स्त्रीमें सत्कार्य्य करके माना गया है। इस कारण यदि तंत्रोक्त पदार्थोंको ग्रहण करने में श्री गुरुदेवका जो उपदेश हो वह यदि शिष्यको यथार्थ लक्ष्य पर पहुंचा देनेके अर्थ हो तो उन असत् पदार्थोंका ग्रहण करना भी उत्तम कार्य्य होगा, इस

में सन्देह नहीं। द्वितीयतः श्रीभगवान्ने निज-मुखसे ही श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि "यज्ञार्थात्कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबंधनः" अर्थात् यज्ञके अर्थ जो कर्म किया जाय वह कर्म साधकके बंधनका हेतु नहीं होता, परन्तु जो कर्म यज्ञके अर्थ न किया जाय वही कर्म्म जीवके बंधनका हेतु हुआ करता है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें भलीभांति सिद्ध कर दिखाया है कि विना कर्म किये जीव एक मुहूर्त भी नहीं रह सक्ता, इस कारण मुमुक्षु जीवों को सदा कर्म करना उचित है; परन्तु वे मुमुक्षु केवल इतना ही किया करें कि अन्य साधारण जीवोंका कर्म्मों पर जिस प्रकार लक्ष्य रहता है उस प्रकारसे अपने कर्म्मों पर लक्ष्य न रक्खें; अर्थात् मायालिप्त जीवगण जिस प्रकार अहंकारसे युक्त होकर स्वार्थ की अभिलाषासे साधारणतः कर्म किया करते हैं उस प्रकारसे मुमुक्षु जीवगण न किया करें; किन्तु अहङ्कारका त्याग करके निःस्वार्थ बुद्धि द्वारा केवल कर्तव्य समझकर कर्म किया करें; तबही उन मुमुक्षु गणका वह किया हुआ कर्म उनके बंधनका हेतु न होगा वरन् वह निष्काम कर्म साधकगणकी मुक्ति का कारण हो जायगा। पूर्वोक्त श्रीभगवत्वाक्यके उदाहरण स्थल पर समझ सक्ते हैं कि रसनाकी

तृप्तिके अर्थ उत्तम स्वादकी इच्छा रखकर अच्छे २ पदार्थोंका ग्रहण करना यदिच मनुष्यके बंधनका हेतु हुआ करता है तथापि श्रीभगवान्की प्रसादी वस्तुएँ यदि नाना प्रकारके दिव्य पदार्थ हों और साधक उनको केवल प्रसाद समझ कर निष्काम भावसे केवल भक्तियुक्त होकर ग्रहण करे तो कदापि उस साधकका वह दिव्यपदार्थभोजन बंधनका हेतु नहीं होगा। और भी स्थूल दृष्टिसे विचार कर सक्ते हैं कि साधकका लक्ष्य सदा साधनकी ओर रहा करना है परन्तु शरीरकी स्वस्थता ही साधन की सफलताके लिये प्रधान सहायक है; इस अवस्थामें यदि मुमुक्षुसाधक भोजनरूप कर्मको भूल जाय तो यथार्थ ही है किन्तु क्षुधासे जब शरीर व्याकुल होकर साधनमें अशक्त होने लगे उस समय यदि साधक साधनकर्मका त्याग कर बिना रसास्वादनके अति शीघ्रतापूर्वक भोजनीय द्रव्योंसे अपना उदर भरकर पुनः साधन कार्य्यमें लगे तो उस साधकका वह भोजनकरना यज्ञ अर्थात् साधन कर्म ही हुआ; इस कारण लक्ष्य मुक्तिकी ओर रहनेसे साधनसहायकारी असत् वस्तु भी सत्वस्तु ही समझी जा सक्ती है इसमें सन्देह नहीं है। श्रीभगवान् मनुजीने लिखा है कि

"प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तुमहाफला" और उपासनाकाण्डके प्रवर्तक भक्तिदर्शनमें यह सिद्ध किया गया है कि यद्यपि निवृति ही चरम लक्ष्य होना चाहिये परन्तु प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनें मार्गोंमें ही क्रमोन्नति होनासम्भव है। निवृत्तिमार्ग द्वारा क्रमोन्नतिके विषयमें उक्त दर्शनने कहा है कि कर्म यज्ञ, उपासनायज्ञ और ज्ञानयज्ञ द्वारा क्रमोन्नति होती है। यथा-निवृत्तौस्वाध्यायोपासनाकर्मयोगै-स्त्रिविधशुद्धिः। पुनः प्रवृत्तिमार्गगामी साधकके लिये यह कहा गया है कि अध्यात्मचिन्तन, विभूतिपूजा और भावशुद्धिपूर्वक योगके द्वारा त्रिविध शुद्धि होती है। यथा-अध्यात्मचिन्तनशक्तिपूजन-भावशुद्धिभिरितरत्र। और यही सिद्धान्त किया है कि इस प्रकारसे त्रिविधशुद्धिसाधन करता हुआ प्रवृत्तिमार्गगामी साधक निवृत्तिमार्गकी सिद्धि पा लेता है यथा—भक्ति दर्शनके उत्पतिपादमें कहा है "एतया तल्लाभः"। जिस प्रकार नदीस्रोतके अनुकूल वहनेवाली नैाका सुगमतासे गन्तव्य स्थल पर पहुंच सक्ती है और स्रोतके विरुद्ध चलने पर क्लेश और विपत्तिकी सम्भावना है, इसी रीति पर प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुकूल साधन ही कल्याणप्रद हुआ करते हैं। उदाहरण स्थल पर समझ सक्ते

हैं कि एक भोगी और कामी नरपतिको यदि वैराग्ययुक्त योगसाधनका उपदेश दिया जाय तो अवश्य ही वह उपदेश पाषाण पर बीज बोनेकी नाईं निष्फल होगा। अस्तु, यदि उसको इन्द्रियो-न्मुख प्रवृत्तिके अनुकूल उपाय बता कर सुकौशल-पूर्ण क्रिया द्वारा भावशुद्धिपूर्वक उसके अन्तःक-रणकी गतिको निवृत्तिकी ओर अग्रसर किया जाय तो वह उपदेश अवश्य फलवान् होगा। श्रीगीताजीमें भी लिखा है कि प्रकृति बलपूर्वक जीवको अपने अनुकूल कर्म्मोंमें नियुक्त करती है *। इस कारण यही सिद्ध हुआ कि जगत्में सब अधिकारी निवृत्तिमार्गगामी नहीं होसक्ते। यद्यपि साधकका लक्ष्य निवृत्तिकी ही ओर रहना चाहिये परन्तु प्रवृत्तिमार्गगामी सब अधिकारियों के लिये भी साधनरूपी औषधि मिलनी चाहिये। अस्तु, तन्त्रशास्त्रोंमें निवृत्तिके सब उपायोंके साथ प्रवृत्तिसहित सब प्रकारके साधनोंका समावेश है, इससे तन्त्रशास्त्रोंका महत्त्व, उनकी सार्वभौम-

---

* सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
इति गीतोपनिषद्॥

दृष्टि और उनकी सर्वजीवहितकारिताका ही प्रमाण मिलता है ।

तन्त्रशास्त्रोंमें सात्त्विक, राजसिक व तामसिक ये तीनों प्रकारके कर्म्म और तीनों प्रकारकी उपासनाओंका विस्तृत विवरण है । उच्चसे उच्च सात्त्विक अधिकारके भी तन्त्र विद्यमान हैं और अति निम्न कक्षाके तामसिक अधिकारके भी तन्त्र विद्यमान हैं । उच्च कोटिके कर्म्म और उपासनामें तन्त्रशास्त्रोंकी उपकारिताके विषयमें इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि वर्तमान कालमें आर्य्यजातिके यावत् कर्म्म और उपासनाके साथ तान्त्रिक विधिका सबसे अधिक सम्बन्ध होगया है, और निम्नाधिकारके साधनोंके विषयमें केवल इतनाही उदाहरण देना यथेष्ट होगा कि एक नास्तिक चौर्य्य और दस्युवृत्तिधारी मनुष्यघातक पापीसे क्या तामसिक उपासनाका अधिकारी कापालिक श्रेष्ठ नहीं है? अवश्य वह कापालिक अपेक्षाकृत धार्म्मिक है। अपिच अधःपतित जातिका यह लक्षण है कि उस की दृष्टि केवल दोषकी ही ओर जाया करती है गुणकी ओर कम जाती है । ऊपर लिखित विचारों से तन्त्रशास्त्रसम्बन्धी दोषोंका निराकरण हो कर उसकी सर्वजीवहितकारिताकी ही सिद्धि

होगी । तन्त्रोंकी महिमा और तन्त्रोंके लक्षणके विषयमें ऋषिप्रणीत तन्त्रोंसे प्रमाण दिये जाते हैं * ।

तन्त्रशास्त्रोंमें त्रिविध भाषा और त्रिविध भावोंका समावेश प्रायः सब स्थानोंमें पाया जाता है । तन्त्रोंके शिव और शक्तिके प्रणीत होनेके विषय में बहुधा अर्वाचीन लोग सन्देह करते हैं । वे ऐसा

---

* विष्णुर्वरिष्ठो देवानां ह्रदानामुदधिर्यथा ।
नदीनाञ्च यथा गङ्गा पर्वतानां हिमालयः ॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां राज्ञामिन्द्रो यथा वरः ।
देवीनाञ्च यथा दुर्गा वर्णानां ब्राह्मणो यथा ॥
तथा समस्तशास्त्राणां तन्त्रशास्त्रमनुत्तमम् ।
सर्वकामप्रदं पुण्यं तन्त्रन्वै वेदसम्मतम् ॥
(इति मत्स्यसूक्ते)

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च तन्त्रनिर्णय एव च ।
देवतानाञ्च संस्थानं तीर्थानां चैव वर्णनम् ॥
तथैवाश्रमधर्मश्च विप्रसंस्थानमेव च ।
संस्थानं चैव भूतानां यन्त्राणां चैव निर्णयः ॥
उत्पत्तिर्विबुधानाञ्च तरूणां कल्पसंज्ञितम् ।
संस्थानं ज्योतिषां चैव पुराणाख्यानमेव च ॥
कोषस्य कथनं चैव व्रतानां परिभाषणम् ।
शौचाशौचस्य चाख्यानं नरकाणां च वर्णनम् ॥

कहने लगते हैं कि क्या वे देवतागण रूपधारण करके तंत्रग्रन्थ लिखनेको प्रकट हुए थे ? इत्यादि शङ्काओंके उत्तरमें कहा जा सकता है कि जिस प्रकार परमेश्वर परमात्मा द्वारा वेदका कथन सम्भव हो सकता है उसी प्रकार उनके अंशरूप शिव शक्ति भाव द्वारा तन्त्रोंका प्रकाश होना भी सम्भव है । अपौरुपेय, अनादि, अभ्रान्त और ज्ञानज्योतिः-पूर्ण वेदसमूह जिस प्रकार जगदीश्वर परमात्माके इङ्गित, इच्छा और आज्ञासे ऋचाओंके रूपमें उनकी समाधिलब्ध बुद्धिसे ऋपिगण द्वारा प्रकाशित हुए थे उसी प्रकार श्रीमहादेव शिवजी और महादेवी की इच्छासे उनके भक्त सिद्ध मुनिगण द्वारा तन्त्र ग्रन्थोंका इस संसारमें प्रकाश होना भी पूर्णरूपसे युक्तियुक्त है। इस समय तन्त्रशास्त्रका बहुत सा अंश लुप्त हो गया है और शतांश भी नहीं मिलता। जो तन्त्र हैं भी उनमेंसे सब अधिकारोंके तन्त्रोंका समानरूपसे प्रचार नहीं है। विशेषतः

हरचक्रस्य चाख्यानं स्त्रीपुंसोश्चैव लक्षणम् ।
राजधर्म्मो दानधर्म्मो युगधर्मस्तथैव च ॥
स व्यवहारः कथ्यते च तथा चाध्यात्मवर्णनम् ।
कर इत्यादि लक्षणैर्युक्तं तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

है
रों
हो
सद्धि

पूर्ण सात्विक तन्त्रोंका पठनपाठन
गया है, इत्यादि कई कारणोंसे तान्त्रिक
नता होगई है । अस्तु, इस समय जो
लब्ध होते हैं उनके अनुशीलन द्वारा
गी आवश्यकीय विषयोंके स्वतन्त्र २ संग्रह
प्रचार द्वारा अधिक लाभ हो सकेगा ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।